श्री गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला २, ३

गृद्धपिच्छ आचार्य प्रणीत

तत्त्वार्थसूत्र

विवेचन कर्ता
पं० फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री

प्रकाशक—
श्री गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला
भदैनीघाट, बनारस

प्रकाशक—
श्रीगणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला
भदैनी, बनारस।

मूल्य ५)
प्रथम संस्करण
वी० नि० सं० २४७६

मुद्रक—
मेवालाल गुप्त,
बम्बई प्रिंटिंग काटेज
बाँस-फाटक काशी

प्रकाशक के दो शब्द

श्री गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला की द्वितीय माला का यह तृतीय मणि है जिसे भाद्रपद शुक्ला ५ की पुण्य वेलामें प्रकाशित करते हुए मैं परम आनन्द का अनुभव करता हूँ।

इसके प्रकाशन में जान या अनजान अवस्था में दूसरों द्वारा जो अड़चनें उत्पन्न की गई हैं उनकी चर्चा करना यहाँ व्यर्थ है। हमें तो खुशी इस बात की है कि उनके रहते हुए भी यह काम किसी न किसी रूप में सम्पन्न किया गया है।

आज हमारे बीच श्रद्धेय गुरुवर्य पं० देवकीनन्दनजी सिद्धान्त-शास्त्री नहीं हैं। ग्रन्थमाला की स्थापना उनकी सत्कृपा का फल है। यदि वे हमारे बीच होते तो उन्हें ग्रन्थमाला की यह प्रगति देखकर कितना आनन्द होता इसकी कल्पना से हृदय भर आता है और आँखें अश्रुओं का स्थान ले लेती हैं।

पूज्य गुरुवर्य्य श्री १०५ क्षु० गणेशप्रसाद जी वर्णी अब पूरी तरह से अपनी वृद्ध अवस्था का अनुभव करने लगे हैं। दीर्घ आयु का उपभोग करते हुए उनका ग्रन्थमाला को चिरकाल तक आशीर्वाद मिलता रहे यही हमारी कामना है।

प्रस्तुत पुस्तक का मुद्रण समय पर न हो सका और दो वर्ष से भी अधिक समय तक यह प्रेसमें पड़ी रही यह दोष हमारा है। यदि हम

दूसरों की सलाह में न उलझे होते तो इसकी यह गति न होती। बम्बई प्रिंटिग काटेज प्रेसके मालिक श्री मेवालाल जी गुप्त का तो हमें आभार ही मानना चाहिये, क्योंकि उन्हीं की कृपा के फलस्वरूप हम इतने जल्दी इसे प्रकाश में लाने में समर्थ हुए हैं। श्री भाई कन्हैयालाल जी का और प्रेसके दूसरे कर्मचारियों का भी इस काम में हमें पूरा सहयोग मिला है। अतएव हम उनके भी आभारी हैं।

प्रस्तुत पुस्तक का प्रकाशन उतना निर्दोष न हो सका जितने की मैं आशा करता था, आशा है पाठक इसके लिये क्षमा करेंगे।

भाद्रपद शुक्ला १५
वी० नि० सं० २४७६

फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री
संयुक्त मन्त्री
श्री वर्णी जैन ग्रन्थमाला
भदैनीघाट, बनारस

आत्म निवेदन

तत्त्वार्थसूत्र पर अनेक टीकायें लिखी गई हैं पर वे मात्र मूल सूत्रों का अन्वयार्थ लिखने तक ही सीमित हैं। मेरा ध्यान इस कमी की ओर गया और इसीलिये मैंने तत्त्वार्थसूत्र पर शंका समाधान के साथ प्रस्तुत विस्तृत विवेचन लिखा है।

यह विवेचन लिखते समय मेरे सामने प्रज्ञाचक्षु पं० सुखलालजी का तत्त्वार्थसूत्र रहा है। इसमें उसका ढाँचा तो मैंने स्वीकार किया ही है, साथ ही कहीं कहीं पण्डितजी के विवेचन को भी आवश्यक परिवर्तन के साथ या शब्दशः मैंने इस विवेचन का अङ्ग बनाया है। पण्डितजी जैन दर्शन के प्रकाण्ड और मर्मज्ञ विद्वान् हैं। उनकी शैली और भाषा भी मजी हुई और प्रांजल है। इससे मुझे प्रस्तुत विवेचन के लिखने में बड़ी सहायता मिली है।

मेरी इच्छा इसमें जैन दर्शन व धर्म की प्राचीन मान्यताओं को यथावत् संकलन करने की ही रही है। इसके लिये कहीं कहीं मुझे चालू व्याख्याओं में प्राचीन आगमों के आधार से आवश्यक परिवर्तन भी करना पड़ा है। मेरा विश्वास है कि जैनदर्शन जैसे सूक्ष्म विषय के अध्ययन करने में इससे बड़ी सहायता मिलेगी।

एक बात अवश्य है कि सर्वार्थसिद्धि में जो 'पुट्ठं सुणोदि सद्दं' इत्यादि गाथा उद्धृत है उसका ठीक विवेचन मैंने सर्वार्थसिद्धि के अनुवाद में किया है। उसके अनुसार स्पर्शन, रसन, घ्राण और श्रोत्र ये चारों इन्द्रियाँ प्राप्यकारी और अप्राप्यकारी दोनों प्रकार की ठहरती हैं। किन्तु प्रस्तुत विवेचन में इस बात का निर्देश नहीं कर सका हूँ। इसमें 'अर्थस्य' सूत्र की व्याख्या करते समय सर्वार्थसिद्धि के आधार से जो

'अर्थ' शब्द की परिभाषा दी है वह अधूरी है। वहाँ उक्त चारों इन्द्रियों के विषय को प्राप्यकारी और अप्राप्यकारी मान कर ही उक्त व्याख्या की संगति बिठानी चाहिये।

मैंने इस विवेचन का प्रारम्भिक ढाँचा जयधवला कार्यालय में काम करते हुए तैयार किया था। इसके बाद वर्णी ग्रन्थमाला में काम करते हुए मुझे इसमें बहुत कुछ परिवर्धन और परिवर्तन करना पड़ा है। इससे यह विवेचन उस समय लिखे गये विवेचन से न केवल दूना हो गया है अपितु अनेक महत्त्वपूर्ण विषयों की रूपरेखा में भी परिवर्तन हो गया है।

मेरी इच्छा इसकी विस्तृत प्रस्तावना लिखने की थी, आवश्यक परिशिष्ट भी तैयार करने थे पर इस समय खुरई गुरुकुल की व्यवस्था की ओर चित्त बटा होने के कारण मैं ऐसा नहीं कर सका। तत्काल मूल सूत्रकर्ता के विषय में मैंने जो रूपरेखा उपस्थित की है आशा है उस ओर विद्वानों का लक्ष्य अवश्य जायगा।

इस विवेचन के तैयार करने में मुझे अनेक महानुभावों से सहायता मिली है इसलिये मैं उन सबका तो आभारी हूँ ही, साथ ही मैं प्रज्ञाचक्षु पं० सुखलालजी का विशेषरूप से आभारी हूँ, क्योंकि उन्हीं के तत्त्वार्थसूत्र से मुझे यह प्रेरणा मिली है।

मैं इस प्रयत्न में कितना सफल हुआ हूँ यह कार्य मैं स्वाध्याय प्रेमियों पर छोड़ता हूँ।

भाद्रपद शुक्ला ५
वी० नि० सं० २४७६

फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री

प्रस्तावना

तत्त्वार्थसूत्र का महत्त्व

तत्त्वार्थसूत्र को कुछ पाठभेद व सूत्रभेद के साथ जैनधर्म के सभी सम्प्रदायों ने समान रूप से स्वीकार किया है। वैदिकों में गीता का, ईसाइयों में बाइबिल का और मुसलमानों में कुरान का जो महत्त्व है वही महत्त्व जैन परम्परा में तत्त्वार्थसूत्र का माना जाता है। अधिकतर जैन इसका प्रतिदिन पाठ करते हैं और कुछ अष्टमी चतुर्दशी को। दशलक्षण पर्व में इस पर प्रवचन भी होते हैं जिन्हें आम जनता बड़ी श्रद्धा के साथ श्रवण करती है। जो कोई इसका पाठ करता है उसे एक उपवास का फल* मिलता है ऐसी इसके सम्बन्ध में ख्याति है। संकलन की दृष्टि से भी इसका महत्त्व कम नहीं है। इसमें जैन दर्शन की मूलभूत सभी मान्यताओं का सुन्दरता पूर्वक संकलन किया गया है। इसके अन्त में मोक्ष का प्रधानता से विवेचन होने के कारण इसे मोक्षशास्त्र भी कहते हैं। किन्तु पुराना नाम इसका तत्त्वार्थसूत्र ही है। सभी आचार्यों ने इसका इसी नाम से उल्लेख किया है। अवश्य ही श्वेताम्बर परम्परा में इसका तत्त्वार्थाधिगम यह नाम कहा जाता है पर व्यवहार में वहां भी इसकी तत्त्वार्थसूत्र इस नाम से ही प्रसिद्धि है।

पाठभेद का कारण

तत्त्वार्थसूत्र के मुख्य पाठ दो मिलते हैं—एक दिगम्बर परम्परा मान्य और दूसरा श्वेताम्बर परम्परा मान्य। इन दोनों पाठों में कोई

---

* दशाध्यायपरिच्छिन्ने तत्त्वार्थे पठिते सति।
फलं स्यादुपवासस्य भाषितं मुनिपुङ्गवैः॥

तात्त्विक भेद नहीं है। क्योंकि जितने भी विवादस्थ सूत्र हैं उन्हें दोनों परम्पराओं ने किसी न किसी रूप में स्वीकार किया है। उदाहरणार्थ नौवें अध्याय के २२ परीषहवाले सूत्र को और इसी अध्याय के केवली के ११ परीषहों का सद्भाव बतलानेवाले सूत्र को दोनों परम्पराएँ स्वीकार करती हैं। इसलिये तत्त्वार्थसूत्र के सूत्रभेद या पाठभेद का कारण सम्प्रदाय भेद न होकर रुचिभेद या आधारभेद रहा है ऐसा ज्ञात होता है। थोड़ा बहुत यदि मान्यताभेद है भी तो भी उसका मुख्य कारण साम्प्रदायिकता नहीं है इतना स्पष्ट है।

दिगम्बर और श्वेताम्बर परम्परा के भेद का मुख्य कारण मुनि के वस्त्र का स्वीकार और अस्वीकार ही रहा है। दिगम्बरों की मान्यता है कि पूर्ण स्वावलम्बन की दीक्षा का नाम ही मुनि दीक्षा है, इसलिये वस्त्र को स्वीकार कर कोई भी व्यक्ति साधु नहीं बन सकता। स्त्री के शरीर की रचना ऐसी होती है जिससे वह वस्त्र का त्याग नहीं कर सकती और न एकाकिनी होकर वह विहार ही कर सकती है। इसीसे दिगम्बर परम्परा में उसे साध्वी दीक्षा के अयोग्य माना गया है। किन्तु श्वेताम्बर परम्परा इस व्यवस्था का तात्त्विक पहलू नहीं देखती। इन दोनों परम्पराओं में मतभेद का कारण इतना ही है बाकी की सब बातें गौण हैं। उनका आधार साम्प्रदायिकता नहीं है।

कर्ता विषयक मतभेद

प्रकृत में देखना यह है कि तत्त्वार्थसूत्र किस की रचना है। साधारणतः दोनों परम्पराओं के साहित्य का आलोढन करने से ज्ञात होता है कि इस विषय में मुख्य रूप से चार उल्लेख पाये जाते हैं। प्रथम उल्लेख तत्त्वार्थाधिगम भाष्य का है। इसके अन्त में एक प्रशस्ति दी है जिसमें इसके कर्ता रूप से वाचक उमास्वाति का उल्लेख किया गया है। प्रशस्ति इस प्रकार है—

'वाचकमुख्यस्य शिवश्रियः प्रकाशयशसः प्रशिष्येण ।
शिष्येण घोषनन्दिक्षमणस्यैकादशाङ्गविदः ॥ १ ॥
वाचनया च महावाचकक्षमणमुण्डपादशिष्यस्य ।
शिष्येण वाचकाचार्यमूलनाम्नः प्रथितकीर्तेः ॥ २ ॥
न्यग्रोधिकाप्रसूतेन विहरता पुरवरे कुसुमनाम्नि ।
कौभीषणिना स्वातितनयेन वात्सीसुतेनार्घ्यम् ॥ ३ ॥
अर्हद्वचनं सम्यग्गुरुक्रमेणागतं समुपधार्य ।
दुःखार्तं च दुरागमविहतमतिं लोकमवलोक्य ॥ ४ ॥
इदमुच्चैर्नागरवाचकेन सत्त्वानुकम्पया दृब्धम् ।
तत्त्वार्थाधिगमाख्यं स्पष्टमुमास्वातिना शास्त्रम् ॥ ५ ॥
यस्तत्त्वाधिगमाख्यं ज्ञास्यति च करिष्यते च तत्रोक्तम् ।
सोऽव्याबाधसुखाख्यं प्राप्स्यत्यचिरेण परमार्थम् ॥ ६ ॥

यद्यपि इसमें तत्त्वार्थाधिगम नामक शास्त्र के रचयिता रूप में उमा-स्वातिका उल्लेख किया गया है किन्तु इससे यह ज्ञात नहीं होता कि तत्त्वार्थाधिगम यह संज्ञा किसकी है—मूल सूत्रों की, भाष्य की या दोनों की ?

उक्त प्रशस्ति के चौथे और पाँचवें श्लोक में यह बात कही गई है कि गुरु परम्परा से प्राप्त हुए श्रेष्ठ अर्हत वचन को भली प्रकार धारण कर···इस तत्त्वार्थाधिगम नामक शास्त्र की रचना की गई है। इस पर से यह 'आर्हत वचन' क्या वस्तु है यह जानने की जिज्ञासा होती है। बहुत सम्भव है कि वाचक उमास्वाति के सामने तत्त्वार्थ विषयक मूल सूत्र रहे हों जिनको आधार मानकर इन्होंने उनका सम्यक् प्रकार से ज्ञान करानेवाला यह तत्त्वार्थाधिगम नामक भाष्य लिखा हो। जो कुछ भी हो,

उक्त कथन से इतना तो स्पष्ट है कि भाष्यकार वाचक उमास्वाति इस विषय में स्वयं मौन हैं। उनकी प्रशस्ति से यह नहीं ज्ञात होता कि उन्होंने स्वयं मूल सूत्रों की रचना की है। और न ही भाष्य के प्रारम्भ में आये हुए श्लोकों से इस बात का पता लगता है। हाँ उनके बाद के दूसरे श्वेताम्बर टीकाकारों ने यह अवश्य स्वीकार किया है कि उमास्वाति ने मूल सूत्र और भाष्य दोनों की रचना स्वयं की है।

२—दूसरा उल्लेख वीरसेन स्वामी की धवला टीका का है जिसमें तत्त्वार्थसूत्र के कर्तारूप से गृद्धपिच्छ आचार्य का उल्लेख किया गया है। काल द्रव्य की चरचा करते हुए वीरसेन स्वामी जीवट्ठाण के काल अनुयोगद्वार (पृ० ३१६ मुद्रित) में लिखते हैं—

'तह गिद्धपिंछाइरियप्पयासिदतच्चत्थसुत्ते वि वर्तनापरिणाम-क्रिया परत्वापरत्वे च कालस्य इदि दव्वकालो परूविदो।'

वीरसेन स्वामी ने शक सं० ७३८ में धवला टीका समाप्त की थी। ये सिद्धान्त, ज्योतिष, गणित और इतिहास आदि अनेक विषयों के प्रकाण्ड विद्वान् थे। इनके द्वारा 'गृद्धपिच्छ आचार्य द्वारा प्रकाशित तत्त्वार्थसूत्रमें' ऐसा उल्लेख किया जाना साधारण घटना नहीं है। मालूम पड़ता है कि वीरसेन स्वामी के काल तक एकमात्र गृद्धपिच्छ आचार्य तत्त्वार्थसूत्र के कर्ता माने जाते थे। गृद्धपिच्छ को विशेषण मानकर उमास्वाति या उमास्वामी इस नाम को प्रमुखता बहुत काल बाद मिली है।[1] विद्यानन्द के श्लोकवार्तिक से भी इसी बात का समर्थन होता है

---

[1] पिछली मुद्रित आप्तपरीक्षा की स्वोपज्ञ वृत्ति में 'तत्त्वार्थसूत्रकारैरुमास्वामिप्रभृतिभिः' पाठ है पर मालूम होता है कि यह किसी टिप्पणी का अंश मूल में सम्मिलित हो गया है। न्यायाचार्य दरबारीलाल जी ने आप्तपरीक्षा का सम्पादन किया है उसमें यह पाठ नहीं है।

क्योंकि उन्होंने 'गृद्धपिच्छाचार्यपर्यन्तमुनिसूत्रेण' इस पद द्वारा स्पष्टतः गृद्धपिच्छाचाय को तत्त्वार्थसूत्र का कर्ता घोषित किया है।

३ तीसरा उल्लेख चन्द्रगिरि पर्वत पर पाये जानेवाले शिलालेखों का है। इनमें से ४०, ४२, ४३, ४७, ५० वें शिलालेखों में गृद्धपिच्छ विशेषण के साथ उमास्वातिका उल्लेख किया है और शिलालेख १०५ व १०८ में उन्हें तत्त्वार्थसूत्र का कर्ता भी बतलाया है। ये दोनों शिलालेख डा० हीरालाल जी के मतानुसार क्रमशः शक सं० १३२० और शक सं० १३५५ के माने जाते हैं। शिलालेख १०५ का उद्धरण इस प्रकार है—

श्रीमानुमास्वातिरयं यतीशस्तत्त्वार्थसूत्रं प्रकटीचकार।
यन्मुक्तिमार्गाचरणोद्यतानां पाथेयमर्घ्यं भवति प्रजानाम् ॥१५॥
तस्यैव शिष्योऽजनि गृद्धपिच्छद्वितीयसंज्ञस्य बलाकपिच्छः।
यत्सूक्तिरत्नानि भवन्ति लोके मुक्त्यंगनामोहनमण्डनानि ॥१६॥

शिलालेख १०८ में इसी बात को इस प्रकार लिपिबद्ध किया गया है—

अभूदुमास्वातिमुनिः पवित्रे वंशे तदीये सकलार्थवेदी।
सूत्रीकृतं येन जिनप्रणीतं शास्त्रार्थजातं मुनिपुंगवेन ॥११॥
स प्राणिसंरक्षणसावधानो बभार योगी किल गृद्धपक्षान्।
तदा प्रभृत्येव बुधा यमाहुराचार्यशब्दोत्तरगृद्धपिच्छम् ॥ १२ ॥

४ चौथा उल्लेख निम्नलिखित श्लोक के आधार पर है—

तत्त्वार्थसूत्रकर्तारं गृद्धपिच्छोपलक्षितम्।
वन्दे गणीन्द्रसंजातमुमास्वामिमुनीश्वरम् ॥

इसमें गृद्धपिच्छ से उपलक्षित उमास्वामी मुनीश्वर को तत्त्वार्थसूत्र का कर्ता बतलाया है और इन्हें गणीन्द्र कहा है।

आधुनिक विद्वानों का मत

इस प्रकार ये चार मत हैं जो प्रमुखता से तत्त्वार्थसूत्र के कर्ता के सम्बन्ध में प्रचलित हैं। आधुनिक विद्वान् भी इन्हीं के आधार से कुछ न कुछ अपना मत बनाते हैं। अभी तक उन्होंने इस विषय में जो कुछ भी लिखा है उस पर से दो मत फलित होते हैं—

१ तत्त्वार्थाधिगम भाष्य के कर्ता उमास्वाति ने ही तत्त्वार्थसूत्र की रचना की है। इस मत का प्रतिपादन प्रज्ञाचक्षु पं० सुखलालजी प्रभृति विद्वान् करते हैं।[1] ये इन्हें श्वेताम्बर परम्परा का मानते हैं।

२ तत्त्वार्थसूत्र के कर्ता गृद्धपिच्छ उमास्वाति हैं जो कुन्द कुन्द के शिष्य थे। और तत्त्वार्थाधिगम भाष्य के कर्ता कोई दूसरे आचार्य हैं। इस मत का प्रतिपादन पं० जुगलकिशोरजी मुख्तार प्रभृति विद्वान् करते हैं।[2] ये इन्हें दिगम्बर परम्परा का मानते हैं।

पं० नाथूरामजी प्रेमी ने भी इस विषय की विस्तृत चर्चा की है। उनका इस विषय का एक लेख स्व० बाबू श्री बहादुरसिंहजी सिंघी की स्मृति में मुद्रित 'भारतीय विद्या' के तीसरे भाग में प्रकाशित हुआ है। इसमें प्रेमीजी ने प्रज्ञाचक्षु पं० सुखलालजी के मत का समर्थन किया है। यदि इन दोनों विद्वानों में कोई मतभेद है तो एकमात्र इस बात में है कि वे किस सम्प्रदाय के थे। प्रज्ञाचक्षु पं० सुखलालजी इन्हें श्वेताम्बर परम्परा का मानते हैं और प्रेमीजी यापनीय परम्परा का। अब मालूम हुआ है कि प्रज्ञाचक्षु पं० सुखलालजी का मत पुनः बदल गया है और वे भी प्रेमीजी के समान उन्हें यापनीय परम्परा का मानने लगे हैं।

---

१ देखो पं० सुखलालजी के तत्त्वार्थसूत्र की प्रस्तावना।

२ देखो माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला से प्रकाशित रत्नकरण्ड की प्रस्तावना।

कर्तृत्व विषयक भ्रम का निराकरण

यद्यपि यहाँ मुख्य रूप से यह विचारणीय नहीं है कि तत्त्वार्थसूत्र के कर्ता किस परम्परा के थे। वे किसी भी परम्परा के रहे हों इसमें हानि नहीं है, क्योंकि सवस्त्र दीक्षा और इससे सम्बन्धित अन्य विषयों को छोड़कर शेष विषय साम्प्रदायिकता से सम्बन्ध नहीं रखते। यहाँ तो हमें प्रमुखता से यह देखना है कि तत्त्वार्थसूत्र के संकलन का मुख्य श्रेय किसे दिया जाय।

जैसा कि हम पहले बतला आये हैं तदनुसार यदि पूर्वोक्त सभी उल्लेखों को प्रमाण माना जाय तो तत्त्वार्थसूत्र के कर्ता चार आचार्य ठहरते हैं—गृद्धपिच्छ, वाचक उमास्वाति, गृद्धपिच्छ उमास्वाति और गृद्धपिच्छ उमास्वामी, इसलिये विवेक यह करना है कि इन उल्लेखों में किसे प्रमाण माना जाय।

यह तो स्पष्ट है कि गृद्धपिच्छ विशेषण के साथ उमास्वाति का उल्लेख चन्द्रगिरि पर्वत पर पाये जानेवाले शिलालेखों के सिवा अन्य किसी आचार्य ने नहीं किया है इसलिये अधिकतर सम्भव तो यही दिखाई देता है कि यह नाम कल्पित हो और यह भी सम्भव है कि इसी प्रकार गृद्धपिच्छ उमास्वामी यह नाम भी कल्पित हो। यह हम जानते हैं कि मेरे ऐसा लिखने से अधिकतर विद्वानों को धक्का लगेगा पर यह अनुशीलन का परिणाम है। इसी से ऐसा लिखना पड़ा है।

दिगम्बर परम्परा में गृद्धपिच्छ तत्त्वार्थसूत्र के कर्ता माने जाते थे और श्वेताम्बर परम्परा में वाचक उमास्वाति हुए हैं जो उत्तरकाल में तत्त्वार्थसूत्र के कर्ता माने जाने लगे थे, इसलिये ये दोनों नाम मिलकर आगे इस भ्रम को जन्म देने में समर्थ हुए कि तत्त्वार्थसूत्र के कर्ता गृद्धपिच्छ उमास्वाति हैं और स्वाति से स्वामी शब्द बनने में देर नहीं लगी इसलिये किसी किसी ने यह भी घोषणा की कि तत्त्वार्थ सूत्र के कर्ता गृद्धपिच्छ उमास्वामी हैं।

हमें ऐसा निर्णय करने में इस कारण से भी सहायता मिली है कि ११ वीं शताब्दि के पहले के किन्हीं दिगम्बर आचार्यों ने इन नामों का उल्लेख नहीं किया है। श्वेताम्बर परम्परा में यद्यपि उमास्वाति यह नाम आया है पर उसका विशेषण वाचक है न कि गृद्धपिच्छ और दिगम्बर परम्परा में ११ वीं शताब्दि के पूर्व मात्र गृद्धपिच्छ नाम का उल्लेख मिलता है, इसलिये गृद्धपिच्छ उमास्वाति या गृद्धपिच्छ उमास्वामी इस नाम के न तो कोई आचार्य हुए और न वे तत्त्वार्थसूत्र के कर्ता ही माने जा सकते हैं।

अब देखना यह है कि आखिर तत्त्वार्थसूत्र की रचना किसने की। पूर्वोक्त आधारों से हमारे सामने ऐसे दो काम शेष रहते हैं जिन्हें तत्त्वार्थसूत्र का कर्ता माना जाता है—एक गृद्धपिच्छ और दूसरे वाचक उमास्वाति। दिगम्बर आचार्य गृद्धपिच्छ का तत्त्वार्थसूत्र के कर्ता रूप से उल्लेख करते हैं और श्वेताम्बर आचार्य वाचक उमास्वाति का। यह माना जा सकता है कि दिगम्बर परम्परा में प्रचलित तत्त्वार्थसूत्र के कर्ता गृद्धपिच्छ रहे हों और श्वेताम्बर परम्परा में प्रचलित तत्त्वार्थसूत्र के कर्ता वाचक उमास्वाति रहे हों पर यहाँ मुख्य विवाद इस बात का नहीं है मुख्य विवाद इस बात का है कि सर्व प्रथम मूल तत्त्वार्थसूत्र की रचना किसने की गृद्धपिच्छने या वाचक उमास्वाति ने।

इस समय हमारे सामने तत्त्वार्थसूत्र की दोनों परम्पराओं की दृष्टि से दो आद्य टीकाएँ उपस्थित हैं—एक सर्वार्थसिद्धि और दूसरा तत्त्वार्थाधिगम भाष्य। इन दोनों की स्थिति समान है। इन्हें देखकर यह जान सकना कठिन है कि अन्य आचार्य के द्वारा बनाये गये ग्रन्थ पर ये दोनों टीकाकार टीका लिख रहे हैं या स्वयं बनाये गये ग्रन्थ पर ये टीका लिख रहे हैं। एक कर्तृकपने की सिद्धि के लिये 'वक्ष्यामि, निर्देक्ष्यामः' इत्यादि जो प्रमाण तत्त्वार्थाधिगम भाष्य में

पाये जाते हैं उनकी सर्वार्थसिद्धि में भी कमी नहीं है। एक बात अवश्य है कि मूल सूत्रों की क्रमबार रचना के साथ-साथ इन दोनों टीकाओं की रचना हुई होगी यह इनके देखने से सिद्ध नहीं होता, प्रत्युत इनके देखने से यही ज्ञात होता है कि पूरे तत्त्वार्थसूत्र को सामने रखकर ये टीकायें लिखी गई हैं। यदि सर्वार्थसिद्धि में एक दो पाठभेद पाये जाते हैं तो ऐसे पाठ भेदों की तत्त्वार्थाधिगम भाष्य में कमी नहीं है। अन्तर केवल इतना है कि सर्वार्थसिद्धि में ऐसे पाठभेद का उल्लेख स्पष्टतः किया है और तत्त्वार्थाधिगम भाष्य में टीका लिखते समय उसे नजरंदाज कर दिया है। उदाहरणार्थ दूसरे अध्याय के अन्तिम सूत्र के भाष्य में प्रथम तो उत्तम पद की व्याख्या कर दी किन्तु बाद में उसे छोड़ दिया। इसी प्रकार चौथे अध्याय के २६ वें सूत्र में लौकान्तिकों के नाम तो नौ गिनाए पर भाष्य में एक नाम छोड़ दिया। फिर भी आश्चर्य यह है कि उत्तरकाल में वाचक उमास्वाति तत्त्वार्थसूत्र के कर्ता माने जाने लगे। हमने इस विषय की गहराई से छानबीन की है। उससे हम तो इसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि तत्त्वार्थाधिगम भाष्यकार और तत्त्वार्थसूत्रकार एक व्यक्ति नहीं हैं।

यह तो मानी हुई बात है कि तत्त्वार्थसूत्र के कर्ता आगम के गहरे अभ्यासी रहे हैं, इसके बिना इतने प्रांजल और व्यवस्थित ग्रन्थ का निर्माण होना कभी भी सम्भव नहीं है पर तत्त्वार्थाधिगम भाष्य के आलोढन से यह पता नहीं लगता कि ये जैनधर्म के सभी विषयों के गहरे अभ्यासी रहे हू गे। उदाहरणार्थ इन्होंने 'उच्चैर्नीचैश्च' इस सूत्र की व्याख्या करते हुए उच्चगोत्र और नीचगोत्र के जो लक्षण दिये हैं वे जैन परम्परा के सर्वथा प्रतिकूल हैं। जैन परम्परा में गोत्र कर्म जीवों के अमुक प्रकार के परिणामों का निर्वर्तक माना गया है न कि सामाजिक उच्चता और नीचता का निर्वर्तक। जैन कर्मशास्त्र

से आर्थिक पुण्य पाप और सामाजिक उच्चता तथा नीचता का समर्थन नहीं होता यह बात किसी भी कर्मशास्त्र के अभ्यासी से छिपी हुई नहीं है। उसने इनका महत्त्व मात्र आध्यात्मिक दृष्टि से माना है, तभी तो वह उच्चगोत्र और नीचगोत्र इनका समावेश जीवविपाकी कर्मों में करता है। मेरा तो स्पष्ट ख्याल है कि भाष्य की रचना जितनी पुरानी सोची जाती है उतनी पुरानी नहीं है। वह ऐसे समय में ही रचा गया है जब कि भारतवर्ष में जातीयता आकाश को छूने लगी थी और जैनाचार्य भी अपने आध्यात्मिक दर्शन के महत्त्व को भूलकर ब्राह्मण विद्वानों के पिछलग्गू बनने लगे थे।

एक बात और है। दूसरे अध्याय में २१ औदयिक भाव का निर्देश करते हुए 'लिङ्ग' शब्द आया है। वहाँ इसका 'तीन वेद' अर्थ लिया गया है। इसके बाद यह 'लिङ्ग' शब्द दो जगह पुनः आया है—एक तो नौवे अध्याय के 'संयम प्रतिसेवना' इत्यादि सूत्र में और दूसरे दसवें अध्याय के अन्तिम सूत्र में। मेरा ख्याल है कि सूत्र में एक स्थल पर पारिभाषिक जिस शब्द का जो अर्थ परिगृहीत है वही अर्थ अन्यत्र भी लिया जाना चाहिये। किन्तु हम देखते हैं कि तत्त्वार्थाधिगम भाष्यकार इस तथ्य को निभाने में असमर्थ रहे। ऐसी एक दो त्रुटियाँ तद्यपि सर्वार्थसिद्धि में भी देखने को मिलती हैं और इन टीकाओं के आधार से आज तक इन त्रुटियों की पुनरावृत्ति होती आई है। हम भी उनसे बाहर नहीं हैं। पर तत्त्वार्थाधिगम भाष्य के कर्ता को सूत्रकार मान लेने पर उनकी यह जबाबदारी विशेषरूप से बढ़ जाती है। किन्तु वे इस जबाबदारी को निभाने में असमर्थ रहे क्योंकि उन्होंने दूसरे अध्याय में 'लिङ्ग' शब्द की जो परिभाषा दी है, जो कि मूल सूत्र से भी फलित होती है उसका वे सर्वत्र निर्वाह नहीं कर सके और नौवें अध्याय के

'संयम प्रतिसेवना—' इत्यादि सूत्र में वे उसका दूसरा ही अर्थ करने लगे जब कि पूर्वोक्त अर्थ करने से ही वहाँ काम चल सकता था।

एक बात और है। यह तो तत्त्वार्थाधिगम भाष्य के देखने से ही विदित होता है कि तत्त्वार्थसूत्र की रचना भाष्य लिखने के पहले ही हो चुकी थी। और भाष्य इसके बाद लिखा गया था। इसलिये सूत्रों में ऐसा दोष नहीं रहना चाहिये था जिसका अर्थ करने के लिये किसी को भी टीका के शब्द का आश्रय लेना पड़ता। पर हम देखते हैं कि भाष्य मान्य मूल सूत्रों में यह त्रुटि भी विद्यमान है। उदाहरण स्वरूप प्रथम अध्याय का 'यथोक्त निमित्तः षड्विकल्पः शेषाणाम्' यह सूत्र लिया जा सकता है। इस सूत्र में आये हुये 'यथोक्तनिमित्तः' पद का अर्थ करने के लिये इसी अध्याय के 'द्विविधोऽवधिः' सूत्र के भाष्य की सहायता लेनी पड़ती है, अन्यथा उक्त पद का अर्थ केवल मूल सूत्रों के आधार से स्पष्ट नहीं होता।

इन या ऐसे ही दूसरे प्रमाणों के आधार से यह स्पष्ट हो जाता है कि वाचक उमास्वाति मूल सूत्रकार नहीं हैं। बहुत सम्भव है कि गृद्धपिच्छ आचार्य, जिनका कि तत्त्वार्थसूत्र के कर्तारूप से अनेक दिगम्बर आचार्यों ने उल्लेख किया है, इसके कर्ता रहे हों और उसी मूल तत्त्वार्थसूत्र पर सर्वार्थसिद्धि टीका व सूत्रों में आवश्यक परिवर्तन करके उसी पर तत्त्वार्थाधिगम भाष्य लिखा गया हो।

मङ्गलाचरण

हमने तत्त्वार्थसूत्र के प्रारम्भ में 'मोक्षमार्गस्य नेतारं' यह मङ्गलाचरण नहीं दिया है, क्योंकि हमारा अब भी यही ख्याल है कि यह आचार्य गृद्धपिच्छ की रचना नहीं है। यह सर्वार्थसिद्धि के प्रारम्भ में पाया जाता है, इसलिये हमारे ख्याल से यह सर्वार्थसिद्धि वृत्ति का ही अङ्ग माना जाना चाहिये। यद्यपि आचार्य विद्यानन्द इसका

उल्लेख 'शास्त्रादौ सूत्रकाराः प्राहुः' इस रूप से करते हैं पर इसकी पुष्टि में अभी कोई दूसरा प्रबल प्रमाण नहीं मिला है। यदि यह तत्त्वार्थसूत्र का अविभाज्य अङ्ग होता तो इस पर आचार्य पूज्यपाद और अकलंकदेव अवश्य ही टीका लिखते। अभी तो केवल इतना ही कहा जा सकता है कि आचार्य विद्यानन्द इसे तत्त्वार्थसूत्र के कर्ता का मङ्गलाचरण मानते रहे हैं। यह भी सम्भव है कि सूत्रकार से उनका मतलब तत्त्वार्थसूत्र के पिछले सभी टीकाकारों से रहा हो। जो कुछ भी हो अभी यह प्रश्न विचारणीय है।

इतिहास का विषय जितना श्रम साध्य है उतना ही वह गवेषणात्मक भी है। प्रस्तुत प्रस्तावना मुझे दो तीन दिन में ही लिखनी पड़ी है। यदि सब प्रकार की सुविधा मिल सकी तो इस विषय पर मैं सांगोपांग प्रकाश डालने का प्रयत्न करूँगा ऐसी मुझे आशा है।

श्रावण शुक्ला १५
वी० सं० २४७६

फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री

तत्त्वार्थसूत्र

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः ॥१॥ तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् ॥ २ ॥ तन्निसर्गादधिगमाद्वा ॥ ३ ॥ जीवाजीवास्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वम् ॥ ४ ॥ नामस्थापनाद्रव्यभावतस्तन्न्यासः ॥ ५ ॥ प्रमाणनयैरधिगमः ॥ ६ ॥ निर्देशस्वामित्वसाधनाऽधिकरणस्थितिविधानतः ॥ ७ ॥ सत्संख्याक्षेत्रस्पर्शनकालान्तरभावाल्पबहुत्वैश्च ॥ ८ ॥ मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानम् ॥ ९ ॥ तत्प्रमाणे ॥ १० ॥ आद्ये परोक्षम् ॥ ११ ॥ प्रत्यक्षमन्यत् ॥ १२ ॥ मतिः स्मृतिः संज्ञा चिन्ताऽभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम् ॥ १३ ॥ तदिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तम् ॥ १४ ॥ अवग्रहेहाऽवायधारणाः ॥ १५ ॥ बहुबहुविधक्षिप्राऽनिःसृताऽनुक्तध्रुवाणां सेतराणाम् ॥ १६ ॥ अर्थस्य ॥ १७ ॥ व्यञ्जनस्यावग्रहः ॥ १८ ॥ न चक्षुरनिन्द्रियाभ्याम् ॥ १९ ॥ श्रुतं मतिपूर्वं द्व्यनेकद्वादशभेदम् ॥ २० ॥ भवप्रत्ययोऽवधिर्देवनारकाणाम् ॥ २१ ॥ क्षयोपशमनिमित्तः षड्विकल्पः शेषाणाम् ॥ २२ ॥ ऋजुविपुलमती मनःपर्य्ययः ॥ २३ ॥ विशुद्ध्यप्रतिपाताभ्यां तद्विशेषः ॥ २४ ॥ विशुद्धिक्षेत्रस्वामिविषयेभ्योऽवधिमनःपर्य्ययोः ॥ २५ ॥ मतिश्रुतयोर्निबन्धो द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु ॥ २६ ॥ रूपिष्ववधेः

॥ २७ ॥ तदनन्तभागे मनःपर्ययस्य ॥ २८ ॥ सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य ॥ २९ ॥ एकादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्नाचतुर्भ्यः ॥ ३० ॥ मतिश्रुतावधयो विपर्ययश्च ॥ ३१ ॥ सदसतोरविशेषाद्यदृच्छोपलब्धेरुन्मत्तवत् ॥ ३२ ॥ नैगमसंग्रहव्यवहारर्जुसूत्रशब्दसमभिरूढैवंभूता नयाः ॥ ३३ ॥

इति तत्त्वार्थाधिगमे मोक्षशास्त्रे प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

औपशमिकक्षायिकौ भावौ मिश्रश्च जीवस्य स्वतत्त्वमौदयिकपारिणामिकौ च ॥ १ ॥ द्विनवाष्टादशैकविंशतित्रिभेदा यथाक्रमम् ॥ २ ॥ सम्यक्त्वचारित्रे ॥ ३ ॥ ज्ञानदर्शनदानलाभभोगोपभोगवीर्याणि च ॥ ४ ॥ ज्ञानाज्ञानदर्शनलब्धयश्चतुस्त्रित्रिपञ्चभेदाः सम्यक्त्वचारित्रसंयमासंयमाश्च ॥ ५ ॥ गतिकषायलिङ्गमिथ्यादर्शनाज्ञानासंयतासिद्धलेश्याश्चतुश्चतुस्त्र्येकैकैकैकषड्भेदाः ॥ ६ ॥ जीवभव्याभव्यत्वानि च ॥ ७ ॥ उपयोगो लक्षणम् ॥ ८ ॥ स द्विविधोऽष्टचतुर्भेदः ॥ ९ ॥ संसारिणो मुक्ताश्च ॥ १० ॥ समनस्कामनस्काः ॥ ११ ॥ संसारिणस्त्रसस्थावराः ॥ १२ ॥ पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतयः स्थावराः ॥ १३ ॥ द्वीन्द्रियादयस्त्रसाः ॥१४॥ पञ्चेन्द्रियाणि ॥ १५ ॥ द्विविधानि ॥ १६ ॥ निर्वृत्त्युपकरणे द्रव्येन्द्रियम् ॥ १७ ॥ लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियम् ॥ १८ ॥ स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्राणि ॥ १९ ॥ स्पर्शरसगन्धवर्णशब्दा-

स्तदर्थाः ॥२०॥ श्रुतमनिन्द्रियस्य ॥ २१ ॥ वनस्पत्यन्तानामेकम् ॥ २२ ॥ कृमिपिपीलिकाभ्रमरमनुष्यादीनामेकैकवृद्धानि ॥२३॥ संज्ञिनः समनस्काः ॥ २४ ॥ विग्रहगतौ कर्मयोगः ॥ २५ ॥ अनुश्रेणि गतिः ॥ २६ ॥ अविग्रहा जीवस्य ॥ २७॥ विग्रहवती च संसारिणः प्राक्चतुर्भ्यः ॥ २८ ॥ एकसमयाऽविग्रहा ॥२९॥ एकं द्वौ त्रीन्वाऽनाहारकः ॥ ३० ॥ सम्मूर्च्छनगर्भोपपादा जन्म ॥ ३१॥ सचित्तशीतसंवृताः सेतरा मिश्राश्चैकशस्तद्योनयः ॥३२॥ जरायुजाण्डजपोतानां गर्भः ॥३३॥ देवनारकाणामुपपादः॥३४॥ शेषाणां सम्मूर्च्छनम् ॥ ३५ ॥ औदारिकवैक्रियिकाहारकतैजस-कार्मणानि शरीराणि ॥३६॥ परं परं सूक्ष्मम् ॥ ३७ ॥ प्रदेशतोऽसंख्येयगुणं प्राक तैजसात् ॥ ३८ ॥ अनंतगुणे परे ॥ ३९ ॥ अप्रतीघाते ॥ ४० ॥ अनादिसम्बन्धे च ॥४१॥ सर्वस्य ॥४२॥ तदादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्नाचतुर्भ्यः ॥ ४३ ॥ निरुप-भोगमन्त्यम् ॥४४॥ गर्भसम्मूर्छनजमाद्यम् ॥४५ ॥ औपपादिकं वैक्रियिकम् ॥४६॥ लब्धिप्रत्ययं च ॥४७॥ तैजसमपि ॥४८॥ शुभं विशुद्धमव्याघाति चाहारकं प्रमत्तसंयतस्यैव ॥ ४९ ॥ नारकसम्मूर्च्छिनो नपुंसकानि ॥ ५० ॥ न देवाः ॥ ५१ ॥ शेषास्त्रिवेदाः ॥ ५२ ॥ औपपादिकचरमोत्तमदेहाऽसंख्येयवर्षा-युषोऽनपवर्त्यायुषः ॥ ५३ ॥

इति तत्त्वार्थाधिगमे मोक्षशास्त्रे द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

रत्नशर्कराबालुकापङ्कधूमतमोमहातमःप्रभा भूमयो घनाम्बु-वाताकाशप्रतिष्ठाः सप्ताधोऽधः ॥ १ ॥ तासु त्रिंशत्पञ्चविंशति-पञ्चदशदशत्रिपञ्चोनैकनरकशतसहस्राणि पञ्च चैव यथाक्रमम् ॥ २ ॥ नारका नित्याशुभतरलेश्यापरिणामदेहवेदनाविक्रियाः ॥ ३ ॥ परस्परोदीरितदुःखाः ॥४॥ संक्लिष्टासुरोदीरितदुःखाश्च प्राक्चतुर्थ्याः ॥ ५ ॥ तेष्वेकत्रिसप्तदशसप्तदशद्वाविंशतित्रयस्त्रिं-शत्सागरोपमा सत्त्वानां परा स्थितिः ॥ ६ ॥ जम्बूद्वीपलवणो-दादयः शुभनामानो द्वीपसमुद्राः ॥ ७ ॥ द्विर्द्विर्विष्कम्भाः पूर्वपूर्वपरिक्षेपिणो वलयाकृतयः ॥८॥ तन्मध्ये मेरुनाभिर्वृत्तो योजनशतसहस्रविष्कम्भो जम्बूद्वीपः ॥९॥ भरतहैमवतहरिविदेहरम्यक-हैरण्यवतैरावतवर्षाः क्षेत्राणि ॥१०॥ तद्विभाजिनः पूर्वापरायता हिमवन्महाहिमवन्निषधनीलरुक्मिशिखरिणो वर्षधरपर्वताः ॥११॥ हेमार्जुनतपनीयवैडूर्यरजतहेममयाः ॥ १२ ॥ मणिविचित्रपार्श्वा उपरि मूले च तुल्यविस्ताराः ॥ १३ ॥ पद्ममहापद्मतिगिञ्छ-केसरिमहापुण्डरीकपुण्डरीका ह्रदास्तेषामुपरि ॥ १४ ॥ प्रथमो योजनसहस्रायामस्तदर्द्धविष्कम्भो ह्रदः ॥१५॥ दशयोजनावगाहः ॥१६॥ तन्मध्ये योजनं पुष्करम् ॥ १७ ॥ तद्द्विगुणद्विगुणा ह्रदाः पुष्कराणि च ॥ १८ ॥ तन्निवासिन्यो देव्यः श्रीह्रीधृति-कीर्तिबुद्धिलक्ष्म्यः पल्योपमस्थितयः ससामानिकपरिषत्काः ॥१९॥ गङ्गासिंधुरोहिद्रोहितास्याहरिद्धरिकान्तासीतासीतोदानारीनरका-न्तासुवर्णरूप्यकूलारक्तारक्तोदाः सरितस्तन्मध्यगाः ॥२०॥ द्वयो-

द्वयोः पूर्वाः पूर्वगाः ॥२१॥ शेषास्त्वपरगाः ॥२२॥ चतुर्दश-नदीसहस्रपरिवृता गङ्गासिन्ध्वादयो नद्यः ॥२३॥ भरतः षड्विंशतिपञ्चयोजनशतविस्तारः षट्चैकोनविंशतिभागा योजनस्य ॥२४॥ तद्द्विगुणद्विगुणविस्तारा वर्षधरवर्षा विदेहान्ताः ॥२५॥ उत्तरा दक्षिणतुल्याः ॥२६॥ भरतैरावतयोर्वृद्धिह्रासौ षट्समयाभ्यामुत्सर्पिण्यवसर्पिणीभ्याम् ॥ २७ ॥ ताभ्यामपरा भूमयोऽवस्थिताः ॥ २८ ॥ एकद्वित्रिपल्योपमस्थितयो हैमवतकहारिवर्षकदैवकुरवकाः ॥ २९ ॥ तथोत्तराः ॥ ३० ॥ विदेहेषु संख्येयकालाः ॥३१॥ भरतस्य विष्कम्भो जम्बूद्वीपस्य नवतिशतभागः ॥३२॥ द्विर्धातकीखण्डे ॥ ३३ ॥ पुष्करार्द्धे च ॥३४॥ प्राङ्मानुषोत्तरान्मनुष्याः ॥३५॥ आर्या म्लेच्छाश्च ॥ ३६ ॥ भरतैरावतविदेहाः कर्मभूमयोऽन्यत्र देवकुरूत्तरकुरुभ्यः ॥३७॥ नृस्थिती परावरे त्रिपल्योपमान्तर्मुहूर्ते ॥३८॥ तिर्यग्योनिजानां च ॥३९॥

इति तत्वार्थाधिगमे मोक्षशास्त्रे तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

देवाश्चतुर्णिकायाः ॥ १ ॥ आदितस्त्रिषु पीतान्तलेश्याः ॥२॥ दशाष्टपञ्चद्वादशविकल्पाः कल्पोपपन्नपर्यन्ताः ॥ ३ ॥ इन्द्रसामानिकत्रायस्त्रिंशपारिषदात्मरक्षलोकपालानीकप्रकीर्णकाभियोग्यकिल्विषिकाश्चैकशः ॥ ४ ॥ त्रायस्त्रिंशलोकपालवर्ज्या व्यन्तरज्योतिष्काः ॥ ५ ॥ पूर्वयोर्द्वीन्द्राः ॥ ६ ॥ कायप्रवीचारा

आ ऐशानात् ॥७॥ शेषाः स्पर्शरूपशब्दमनःप्रवीचाराः ॥ ८ ॥ परेऽप्रवीचाराः ॥ ९ ॥ भवनवासिनोऽसुरनागविद्युत्सुपर्णाग्निवातस्तनितोदधिद्वीपदिक्कुमाराः ॥ १० ॥ व्यन्तराः किन्नरकिम्पुरुषमहोरगगन्धर्वयक्षराक्षसभूतपिशाचाः ॥ ११ ॥ ज्योतिष्काः सूर्याचन्द्रमसौ ग्रहनक्षत्रप्रकीर्णकतारकाश्च ॥ १२ ॥ मेरुप्रदक्षिणा नित्यगतयो नृलोके ॥ १३ ॥ तत्कृतः कालविभागः ॥ १४ ॥ बहिरवस्थिताः ॥ १५ ॥ वैमानिकाः ॥ १६ ॥ कल्पोपपन्नाः कल्पातीताश्च ॥ १७ ॥ उपर्युपरि ॥ १८ ॥ सौधर्म्मैशानसानत्कुमारमाहेन्द्रब्रह्मब्रह्मोत्तरलान्तवकापिष्टशुक्रमहाशुक्रशतारसहस्रारेष्वानतप्राणतयोरारणाच्युतयोर्नवसु ग्रैवेयकेषु विजयवैजन्तजयन्तापराजितेषु सर्वार्थसिद्धौ च ॥ १९ ॥ स्थितिप्रभावसुखद्युतिलेश्या विशुद्धीन्द्रियावधिविषयतोऽधिकाः ॥ २० ॥ गतिशरीरपरिग्रहाऽभिमानतो हीनाः ॥ २१ ॥ पीतपद्मशुक्ललेश्या द्वित्रिशेषेषु ॥२२॥ प्राग्ग्रैवेयकेभ्यः कल्पाः ॥ २३ ॥ ब्रह्मलोकालया लौकान्तिकाः ॥ २४ ॥ सारस्वतादित्यवह्न्यरुणगर्दतोयतुषिताव्याबाधारिष्टाश्च ॥ २५ ॥ विजयादिषु द्विचरमाः ॥ २६ ॥ औपपादिकमनुष्येभ्यः शेषास्तिर्यग्योनयः ॥ २७ ॥ स्थितिरसुरनागसुपर्णद्वीपशेषाणां सागरोपमत्रिपल्योपमार्द्ध हीनमिताः॥ २८॥ सौधर्मैशानयोः सागरोपमेऽधिके ॥२९॥ सानत्कुमारमाहेन्द्रयोः सप्त ॥ ३० ॥ त्रिसप्तनवैकादशत्रयोदशपञ्चदशभिरधिकानि तु ॥३१॥ आरणाच्युतादूर्ध्वमेकैकेन नवसु ग्रैवेयकेषु विजयादिषु

सर्वार्थसिद्धौ च ॥ ३२ ॥ अपरा पल्योपममधिकम् ॥३३ ॥ परतः परतः पूर्वापूर्वानन्तरा ॥३४॥ नारकाणां च द्वितीयादिषु ॥३५॥ दशवर्षसहस्राणि प्रथमायाम् ॥ ३६ ॥ भवनेषु च ॥ ३७ ॥ व्यन्तराणां च ॥ ३८ ॥ परा पल्योपममधिकम् ॥ ३९॥ ज्योतिष्काणां च ॥ ४० ॥ तदष्टभागोऽपरा ॥४१ ॥ लौकान्तिकानामष्टौ सागरोपमाणि सर्वेषाम् ॥ ४२ ॥

इति तत्वार्थाधिगमे मोक्षशास्त्रे चतुर्थोध्यायः ॥ ४ ॥

अजीवकाया धर्म्माधर्म्माकाशपुद्गलाः ॥ १ ॥ द्रव्याणि ॥२॥ जीवाश्च ॥ ३ ॥ नित्यावस्थितान्यरूपाणि ॥ ४ ॥ रूपिणः पुद्गलाः ॥ ५ ॥ आ आकाशादेकद्रव्याणि ॥ ६ ॥ निष्क्रियाणि च ॥ ७ ॥ असंख्येयाः प्रदेशा धर्माधर्मैकजीवानाम् ॥ ८ ॥ आकाशस्यानन्ताः ॥९॥ संख्येयासंख्येयाश्च पुद्गलनाम् ॥१०॥ नाणोः ॥ ११ ॥ लोकाकाशेऽवगाहः ॥ १२ ॥ धर्म्माधर्म्मयोः कृत्स्ने ॥ १३ ॥ एकप्रदेशादिषु भाज्यः पुद्गलानाम् ॥ १४ ॥ असंख्येयभागादिषु जीवानाम् ॥ १५ ॥ प्रदेशसंहारविसर्पाभ्यां प्रदीपवत् ॥ १६ ॥ गतिस्थित्युपग्रहौ धर्म्माधर्म्मयोरुपकारः ॥ १७ ॥ आकाशस्यावगाहः ॥१८॥ शरीरवाङ्मनःप्राणापानाः पुद्गलानाम् ॥ १९ ॥ सुखदुःखजीवितमरणोपग्रहाश्च ॥ २० ॥ परस्परोपग्रहो जीवानाम् ॥ २१ ॥ वर्तनापरिणामक्रियापरत्वापरत्वे च कालस्य ॥२२॥ स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः ॥२३॥ शब्द-

बन्धसौक्ष्म्यस्थौल्यसंस्थानभेदतमश्छायाऽऽतपोद्योतवन्तश्च ॥२४॥ अणवः स्कन्धाश्च ॥ २५ ॥ भेदसङ्घातेभ्यः उत्पद्यन्ते ॥ २६ ॥ भेदादणुः ॥ २७ ॥ भेदसङ्घाताभ्यां चाक्षुषः ॥ २८ ॥ सद्द्रव्यलक्षणम् ॥२९॥ उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत् ॥३०॥ तद्भावाव्ययं नित्यम् ॥३१॥ अर्पितानर्पितसिद्धेः ॥३२॥ स्निग्धरूक्षत्वाद्बन्धः ॥ ३३ ॥ न जघन्यगुणानाम् ॥ ३४ ॥ गुणसाम्ये सदृशानाम् ॥३५॥ द्व्यधिकादिगुणानां तु ॥३६॥ बन्धेऽधिकौ पारिणामिकौ च ॥३७॥ गुणपर्य्ययवद्द्रव्यम् ॥३८॥ कालश्च ॥३९॥ सोऽनन्तसमयः ॥ ४० ॥ द्रव्याश्रया निर्गुणाः गुणा ॥ ४१ ॥ तद्भावः परिणामः ॥ ४२ ॥

इति तत्त्वार्थाधिगमे मोक्षशास्त्रे पञ्चमोध्यायः ॥ ५ ॥

कायवाङ्मनःकर्म्मयोगः ॥ १ ॥ स आस्रवः ॥ २ ॥ शुभः पुण्यस्याशुभः पापस्य ॥ ३ ॥ सकषायाकषाययोः साम्परायिकेर्य्यापथयोः ॥४॥ इन्द्रियकषायाव्रतक्रियाः पञ्चचतुःपञ्चपञ्चविंशतिसंख्याः पूर्वस्य भेदाः ॥ ५ ॥ तीव्रमन्दज्ञाताज्ञातभावाधिकरणवीर्यविशेषेभ्यस्तद्विशेषः ॥६॥ अधिकरणं जीवाजीवाः ॥७॥ आद्यं संरम्भसमारम्भारम्भयोगकृतकारितानुमतकषायविशेषैस्त्रिस्त्रिस्त्रिश्चतुश्चैकशः ॥८॥ निर्वर्तनानिक्षेपसंयोगनिसर्गाद्विचतुर्दित्रिभेदाः परम् ॥ ९ ॥ तत्प्रदोषनिह्नवमात्सर्यान्तरायासादनोपघाता ज्ञानदर्शनावरणयोः ॥ १० ॥ दुःखशोकतापाक्रन्दनवधपरिदेवना-

न्यात्मपरोभयस्थान्यसद्वेद्यस्य ॥११॥ भूतव्रत्यनुकम्पादानसरागसंयमादियोगः क्षान्तिः शौचमिति सद्वेद्यस्य ॥ १२ ॥ केवलिश्रुतसंघधर्मदेवावर्णवादो दर्शनमोहस्य ॥ १३ ॥ कषायोदयात्तीव्रपरिणामश्चारित्रमोहस्य ॥ १४ ॥ बह्वारम्भपरिग्रहत्वं नारकस्यायुषः ॥ १५ ॥ माया तैर्यग्योनस्य ॥ १६ ॥ अल्पारम्भपरिग्रहत्वं मानुषस्य ॥ १७ ॥ स्वभावमार्दवं च ॥ १८ ॥ निःशीलव्रतत्वं च सर्वेषाम् ॥१९॥ सरागसंयमसंयमासंयमाकामनिर्जराबालतपांसि दैवस्य ॥ २० ॥ सम्यक्त्वं च ॥ २१ ॥ योगवक्रता विसंवादनं चाशुभस्य नाम्नः ॥ २२ ॥ तद्विपरीतं शुभस्य ॥ २३ ॥ दर्शनविशुद्धिर्विनयसम्पन्नता शीलव्रतेष्वनतीचारोऽभीक्ष्णज्ञानोपयोगसंवेगौ शक्तितस्त्यागतपसी साधुसमाधिर्वैयावृत्यकरणमर्हदाचार्यबहुश्रुतप्रवचनभक्तिरावश्यकापरिहाणिर्मार्गप्रभावना प्रवचनवत्सलत्वमिति तीर्थकरत्वस्य ॥२४॥ परात्मनिन्दाप्रशंसे सदसद्गुणोच्छादनोद्भावने च नीचैर्गोत्रस्य ॥२५॥ तद्विपर्य्ययौ नीचैर्वृत्त्यनुत्सेकौ चोत्तरस्य ॥२६॥ विघ्नकरणमन्तरायस्य ॥ २७ ॥

इति तत्त्वार्थाधिगमे मोक्षशास्त्रे षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

हिंसाऽनृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम् ॥ १ ॥ देशसर्वतोऽणुमहती ॥ २ ॥ तत्स्थैर्यार्थं भावनाः पञ्च पञ्च ॥ ३ ॥ वाङ्मनोगुप्तीर्यादाननिक्षेपणसमित्यालोकितपानभोजनानि पञ्च

॥४॥ क्रोधलोभभीरुत्वहास्यप्रत्याख्यानान्यनुवीचीभाषणं च पञ्च ॥ ५ ॥ शून्यागारविमोचितावासपरोपरोधाकरणभैक्षशुद्धिसधर्म्माविसंवादाः पञ्च ॥६॥ स्त्रीरागकथाश्रवणतन्मनोहराङ्गनिरीक्षणपूर्वरतानुस्मरणवृष्येष्टरसस्वशरीरसंस्कारत्यागाः पञ्च ॥ ७ ॥ मनोज्ञामनोज्ञेन्द्रियविषयरागद्वेषवर्जनानि पञ्च ॥८॥ हिंसादिष्विहामुत्रापायावद्यदर्शनम् ॥९॥ दुःखमेव वा ॥१०॥ मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थानि च सत्त्वगुणाधिकक्लिश्यमानाविनयेषु ॥११॥ जगत्कायस्वभावौ वा संवेगवैराग्यार्थम् ॥१२॥ प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणं हिंसा ॥ १३ ॥ असदभिधानमनृतम् ॥ १४ ॥ अदत्तादानं स्तेयम् ॥१५॥ मैथुनमब्रह्म ॥१६॥ मूर्च्छा परिग्रहः ॥१७॥ निःशल्यो व्रती ॥१८॥ अगार्यनगारश्च ॥ १९ ॥ अणुव्रतोऽगारी ॥२०॥ दिग्देशानर्थदण्डविरतिसामायिकप्रोषधोपवासोपभोगपरिभोगपरिमाणातिथिसंविभागव्रतसम्पन्नश्च ॥२१॥ मारणान्तिकीं सल्लेखनां जोषिता ॥२२॥ शङ्काकांक्षाविचिकित्साऽन्यदृष्टिप्रशंसासंस्तवाः सम्यग्दृष्टेरतीचाराः ॥ २३ ॥ व्रतशीलेषु पञ्च पञ्च यथाक्रमम् ॥ २४ ॥ बन्धवधच्छेदातिभारारोपणान्नपाननिरोधाः ॥२५॥ मिथ्योपदेशरहोभ्याख्यानकूटलेखक्रियान्यासापहारसाकारमंत्रभेदाः ॥ २६ ॥ स्तेनप्रयोगतदाहृतादानविरुद्धराज्यातिक्रमहीनाधिकमानोन्मानप्रतिरूपकव्यवहाराः ॥२७॥ परविवाहकरणेत्वरिकापरिगृहीताऽपरिगृहीतागमनानंगक्रीडाकामतीव्राभिनिवेशाः ॥ २८ ॥ क्षेत्रवास्तुहिरण्यसुवर्णधनधान्यदासीदासकुप्यप्रमाणातिक्रमाः ॥ २९ ॥ ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्व्यतिक्रमक्षेत्रवृद्धिस्मृ-

त्यन्तराधानानि ॥ ३० ॥ आनयनप्रेष्यप्रयोगशब्दरूपानुपात-पुद्गलक्षेपाः ॥ ३१ ॥ कन्दर्पकौत्कुच्यमौखर्यासमीक्ष्याधिकरणोप-भोगपरिभोगानर्थक्यानि ॥ ३२ ॥ योगदुष्प्रणिधानानादरस्मृ-त्यनुपस्थानानि ॥ ३३ ॥ अप्रत्यवेक्षिताऽप्रमार्जितोत्सर्गादान-संस्तरोपक्रमणानादरस्मृत्यनुपस्थानानि ॥ ३४ ॥ सचित्तसंबन्ध-सम्मिश्राभिषवदुःपक्वाहाराः ॥ ३५ ॥ सचित्तनिक्षेपापिधानपर-व्यपदेशमात्सर्यकालातिक्रमाः ॥ ३६ ॥ जीवितमरणाशंसामि-त्रानुरागसुखानुबन्धनिदानानि ॥३७॥ अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो दानम् ॥ ३८ ॥ विधिद्रव्यदातृपात्रविशेषात्तद्विशेषः ॥ ३९ ॥

इति तत्वार्थाधिगमे मोक्षशास्त्रे सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धहेतवः ॥ १ ॥ सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान्पुद्गलानादत्ते स बन्धः ॥ २ ॥ प्रकृतिस्थित्यनुभवप्रदेशास्तद्विधयः ॥ ३ ॥ आद्योज्ञानदर्शना-वरणवेदनीयमोहनीयायुर्नामगोत्रान्तरायाः ॥ ४ ॥ पञ्चनवद्व्यष्टा-विंशतिचतुर्द्विचत्वारिंशद्द्विपञ्चभेदा यथाक्रमम् ॥५॥ मतिश्रुता-वधिमनःपर्ययकेवलानाम् ॥ ६ ॥ चक्षुरचक्षुरवधिकेवलानां निद्रा-निद्रानिद्राप्रचलाप्रचलाप्रचलास्त्यानगृद्धयश्च ॥ ७ ॥ सदसद्वेद्ये ॥८॥ दर्शनचारित्रमोहनीयाकषायकषायवेदनीयाख्यास्त्रिद्विनव-षोडशभेदाः सम्यक्त्वमिथ्यात्वतदुभयान्यकषायकषायौ हास्यरत्य-रतिशोकभयजुगुप्सास्त्रीपुन्नपुंसकवेदाः अनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्या-नप्रत्याख्यानसंज्वलनविकल्पाश्चैकशः क्रोधमानमायालोभाः ॥९॥

नारकतैर्यग्योनमानुषदैवानि ॥ १० ॥ गतिजातिशरीराङ्गोपाङ्ग निर्माणबंधनसंघातसंस्थानसंहननस्पर्शरसगंधवर्णानुपूर्व्यगुरुलघूपघातपरघातातपोद्योतोच्छ्वासविहायोगतयः प्रत्येकशरीरत्रससुभगसुस्वरशुभसूक्ष्मपर्याप्तिस्थिरादेययशःकीर्तिसेतराणि तीर्थकरत्वं च ॥ ११ ॥ उच्चैर्नीचैश्च ॥ १२ ॥ दानलाभभोगोपभोगवीर्याणाम् ॥ १३ ॥ आदितस्तिसृणामंतरायस्य च त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोट्यः परा स्थितिः ॥ १४ सप्ततिर्मोहनीयस्य ॥ १५ ॥ विंशतिर्नामगोत्रयोः ॥१६॥ त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाण्यायुषः ॥१७॥ अपरा द्वादशमुहुर्ता वेदनीयस्य ॥१८॥ नामगोत्रयोरष्टौ ॥१९॥ शेषाणामंतर्मुहूर्ताः ॥ २० ॥ विपाकोऽनुभवः ॥ २१ ॥ स यथानाम ॥ २२ ॥ ततश्च निर्जरा ॥ २३ ॥ नामप्रत्ययाः सर्वतो योगविशेषात्सूक्ष्मैकक्षेत्रावगाहस्थिताः सर्वात्मप्रदेशेष्वनन्तानन्तप्रदेशाः ॥ २४ ॥ सद्वेद्यशुभायुर्नामगोत्राणि पुण्यम् ॥ २५ ॥ अतोऽन्यत्पापम् ॥ २६ ॥

इति तत्वार्थाधिगमे मोक्षशास्त्रेऽष्टमोध्यायः ॥ ८ ॥

आस्रवनिरोधः संवरः ॥ १ ॥ स गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरीषहजयचारित्रैः ॥ २ ॥ तपसा निर्जरा च ॥ ३ ॥ सम्यग्योगनिग्रहो गुप्तिः ॥ ४ ॥ ईर्याभाषैषणादाननिक्षेपोत्सर्गाः समितयः ॥ ५ ॥ उत्तमक्षमामार्दवार्जवसत्यशौचसंयमतपस्त्यागाऽकिञ्चन्यब्रह्मचर्याणि धर्मः ॥६॥ अनित्याशरणसंसारैकत्वान्यत्वाशुच्यास्रवसंवरनिर्जरालोकबोधिदुर्लभधर्मस्वाख्यातत्वानुचिन्तनमनुप्रेक्षाः

॥ ७ ॥ मार्गाच्यवननिर्जरार्थ परिषोढव्याः परीषहाः ॥ ८ ॥ क्षुत्पिपासाशीतोष्णदंशमशकनाग्न्यारतिस्त्रीचर्यानिषद्याशय्याक्रोशवधयाचनालाभरोगतृणस्पर्शमलसत्कारपुरस्कारप्रज्ञाऽज्ञानादर्शनानि ॥९॥ सूक्ष्मसाम्परायछद्मस्थवीतरागयोश्चतुर्दश ॥ १० ॥ एकादश जिने ॥११॥ बादरसाम्पराये सर्वे ॥ १२ ॥ ज्ञानावरणे प्रज्ञाज्ञाने ॥ १३ ॥ दर्शनमोहान्तराययोरदर्शनलाभौ ॥ १४ ॥ चरित्रमोहे नाग्न्यारतिस्त्रीनिषद्याक्रोशयाचनासत्कारपुरस्काराः ॥ १५ ॥ वेदनीये शेषाः ॥ १६ ॥ एकादयो भाज्या युगपदेकस्मिन्नेकोनविंशतिः ॥१७॥ सामायिकच्छेदोपस्थापनापरिहारविशुद्धिसूक्ष्मसाम्पराययथाख्यातमिति चारित्रम् ॥ १८ ॥ अनशनावमौदर्यवृत्तिपरिसंख्यानरसपरित्यागविविक्तशय्यासनकायक्लेशा बाह्यं तपः ॥ १९ ॥ प्रायश्चित्तविनयवैयावृत्त्यस्वाध्यायव्युत्सर्गध्यानान्युत्तरम् ॥ २० ॥ नवचतुर्दशपञ्चद्विभेदा यथाक्रमं प्राग्ध्यानात् ॥ २१ ॥ अलोचनाप्रतिक्रमणतदुभयविवेकव्युत्सर्गतपश्च्छेदपरिहारोपस्थापनाः ॥ २२ ॥ ज्ञानदर्शनचारित्रोपचाराः ॥२३॥ आचार्योपाध्यायतपस्विशैक्ष्यग्लानगणकुलसंघसाधुमनोज्ञानाम् ॥२४॥ वाचनापृच्छनानुप्रेक्षाम्नायधर्मोपदेशाः ॥ २५ ॥ बाह्याभ्यंतरोपध्योः ॥२६॥ आर्तरौद्रधर्म्यशुक्लानि ॥ २८ ॥ परे मोक्षहेतू ॥ २९ ॥ आर्तममनोज्ञस्य सम्प्रयोगे तद्विप्रयोगाय स्मृतिसमन्वाहाराः ॥३०॥विपरीतं मनोज्ञस्य ॥३१॥ वेदनायाश्च ॥३२॥ निदानं च ॥ ३३ ॥ तदविरतदेशविरतप्रमत्तसंयतानाम् ॥ ३४ ॥ हिंसानृतस्तेयविषयसंरक्षणेभ्यो रौद्रमविरतदेशविरतयोः

॥ ३५ ॥ आज्ञापायविपाकसंस्थानविचयाय धर्म्यम् ॥ ३६ ॥ शुक्ले चाद्ये पूर्वविदः ॥३७॥ परे केवलिनः ॥३८॥ पृथक्त्वैकत्ववितर्कसूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिव्युपरतक्रिया निवर्तीनि ॥ ३९ ॥ त्र्येकयोगकाययोगयोगानाम् ॥४०॥ एकाश्रये सवितर्कवीचारे पूर्वे ॥४१॥ अवीचारं द्वितीयम् ॥४२॥ वितर्कः श्रुतम् ॥४३॥ वीचारोऽर्थव्यञ्जनयोगसंक्रातिः ॥ ४४ ॥ सम्यग्दृष्टिश्रावकविरतानन्तवियोजकदर्शनमोहक्षपकोपशमकोपशान्तमोहक्षपकक्षीणमोहजिना क्रमशोऽसंख्येयगुणनिर्जराः ॥ ४५ ॥ पुलाकवकुशकुशीलनिर्गन्थस्नातका निर्ग्रन्थाः ॥ ४६ ॥ संयमश्रुतप्रतिसेवनातीर्थलिंगलेश्योपपादस्थानविकल्पतः साध्याः ॥ ४७ ॥

इति तत्वार्थाधिगमे मोक्षशास्त्रे नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम् ॥ १ ॥ बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः ॥ २ ॥ औपशमिकादिभव्यत्वानां च ॥३॥ अन्यत्र केवलसम्यक्त्वज्ञानदर्शनसिद्धत्वेभ्यः ॥४॥ तदनन्तरमूर्ध्वं गच्छंत्यालोकान्तात् ॥५॥ पूर्वप्रयोगादसंगत्वाद्बन्धछेदात्तथागतिपरिणामाश्च ॥ ६ ॥ आविद्धकुलालचक्रवद्व्यपगतलेपालांबुवदेरण्डवीजवदग्निशिखावच्च ॥७॥ धर्मास्तिकायाभावात् ॥ ८ ॥ क्षेत्रकालगतिलिंगतीर्थचारित्रप्रत्येकबुद्धबोधितज्ञानावगाहनांतरसंख्याल्पबहुत्वतः साध्याः ॥९॥

इति तत्वार्थाधिगमे मोक्षशास्त्रे दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

विषयानुक्रम

पहला अध्याय

दूसरा अध्याय

तीसरा अध्याय

चौथा अध्याय

पांचवां अध्याय

छठा अध्याय

सातवाँ अध्याय

आठवाँ अध्याय

नवमां अध्याय

दसवां अध्याय

तत्त्वार्थसूत्र

विवेचन-सहित

❀ नमोऽर्हते भगवते ❀

आचार्य गृद्धपिच्छ रचित—

तत्त्वार्थसूत्र

विवेचन सहित

पहला अध्याय

संसार में जितने जीव हैं वे सब अपना हित चाहते हैं पर यह पराधीनता से छुटकारा पाये बिना सध नहीं सकता। इससे स्वभावतः यह जिज्ञासा होती है कि क्या जीव स्वाधीन और पराधीन इस प्रकार दो भागों में बटे हुए हैं? यदि हाँ तो सर्व प्रथम यह जान लेना अत्यन्त आवश्यक है कि वे कौन से साधन हैं जिनके प्राप्त होने पर जीव स्वाधीन हो सकता है। इस जिज्ञासा को ध्यान में रख कर सूत्रकार सर्व प्रथम स्वाधीन होने के साधनों का निर्देश करते हैं—

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः ॥ १ ॥

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तीनों मिलकर मोक्ष (स्वाधीनता) के साधन हैं।

इस सूत्र में मोक्ष के साधनों का नामोल्लेख किया है। यद्यपि मोक्ष और उसके साधनों के स्वरूप और भेदों का विस्तार से कथन आगे किया जानेवाला है तथापि यहाँ संक्षेप में उनका विवेचन कर देते हैं।

संसारी जीव के कर्ममल और शरीर अनादि काल से सम्बन्ध को प्राप्त हो रहे हैं, इसलिये इनके दूर हो जाने पर जो जीव की स्वाभाविक शुद्ध अवस्था प्रकट होती है उसीका नाम मोक्ष है।

मोक्ष का स्वरूप

जिस गुण के निर्मल होने पर अन्य द्रव्यों से भिन्न ज्ञानादि गुणवाले आत्मा के अस्तित्व की प्रतीति हो वह सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन के साथ (जीवादि पदार्थों का) होनेवाला यथार्थ ज्ञान सम्यग्ज्ञान है। तथा राग और द्वेष को दूर करने के लिये ज्ञानी पुरुष की जो चर्या होती है वह सम्यक्चारित्र है। किं वा राग, द्वेष और योग की निवृत्ति होकर जो स्वरूपरमण होता है वह सम्यक्चारित्र है।

मोक्षके साधनोंका स्वरूप

उक्त तीन साधन क्रम से पूर्ण होते हैं। सर्व प्रथम सम्यग्दर्शन पूर्ण होता है तदन्तर सम्यग्ज्ञान और अन्त में सम्यक्चारित्र पूर्ण होता है। यतः इन तीनों की पूर्णता होने पर ही आत्मा पर द्रव्य से सर्वथा मुक्त होकर पूर्ण विशुद्ध होता है अतः ये तीनों मिल कर मोक्ष के साधन माने हैं। इनमें से एक भी साधन के अपूर्ण रहने पर परिपूर्ण मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती, क्योंकि साधनों की अपूर्णता ही विवक्षा भेद से साध्य की अपूर्णता है। तेरहवें गुणस्थान के प्रारम्भ में सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान यद्यपि परिपूर्णरूप में पाये जाते हैं तथापि सम्यक्चारित्र के पूर्ण न होने से मोक्ष नहीं प्राप्त होता।

मोक्ष की साधनता

शंका—जब कि दसवें गुणस्थान के अन्त में चारित्रमोहनीय का अभाव होकर बारहवें गुणस्थान के प्रारम्भ में पूर्ण क्षायिक चारित्र प्राप्त हो जाता है तब फिर तेरहवें गुणस्थान में इसे अपूर्ण क्यों बतलाया गया है?

समाधान—चारित्र की पूर्णता केवल चारित्रमोहनीय के अभाव से

न हो कर योग और कषाय के अभाव से होती है। यतः योग तेरहवें गुणस्थान के अन्त तक विद्यमान रहता है, अतः तेरहवें गुणस्थान में चारित्र को अपूर्ण बतलाया है।

शंका—यतः चौदहवें गुणस्थान के प्रथम समय में चारित्र पूर्ण हो जाता है, अतः उसी समय पूर्ण मोक्ष क्यों नहीं प्राप्त होता?

समाधान—यद्यपि यह सही है कि सम्यक्चारित्र की पूर्णता चौदहवें गुणस्थान के प्रथम समय में हो जाती है तब भी सब कर्मों की निर्जरा न होने से चौदहवें गुणस्थान के प्रथम समय में पूर्ण मोक्ष नहीं प्राप्त होता।

शंका—यदि ऐसा है तो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तीनों मिल कर मोक्ष के साधन नहीं हो सकते?

समाधान—इन तीनों के प्राप्त होने पर ही कर्मों की पूर्ण रूपसे निर्जरा होती है इसलिये ये तीनों मिलकर मोक्ष के साधन कहे हैं।

शंका—वास्तव में केवल सम्यक्चारित्र को ही मोक्ष का साधन कहना चाहिये था, क्योंकि अन्त में उसी के पूर्ण होने पर सब कर्मों की निर्जरा होकर मोक्ष प्राप्त होता है?

समाधान—यह सही है कि अन्त में सम्यक्चारित्र पूर्ण होता है किन्तु एक तो इन तीनों के निमित्त से कर्मों का संवर और निर्जरा होती है इसलिये इन तीनों को मोक्ष का साधन कहा है। दूसरे सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान का कारण है और ये दोनों मिलकर सम्यक्चारित्र के कारण हैं, इसलिये भी ये तीनों मिलकर मोक्ष के साधन हैं।

शंका—बन्ध के साधनों में अज्ञान या मिथ्याज्ञान को नहीं गिनाया है इसलिये मोक्ष के साधनों में सम्यग्ज्ञान को गिनाना उचित नहीं है?

समाधान—यह हेय है या उपादेय यह विवेक सम्यग्ज्ञान से ही प्राप्त होता है, इसलिये मोक्ष के साधनों में सम्यग्ज्ञान को गिनाया है।

यद्यपि आत्मा का स्वभाव दर्शन, ज्ञान और चारित्र है फिर भी इनके पीछे सम्यक् विशेषण प्रतिपक्ष भावों के निराकरण करने के लिये दिया है। बात यह है कि संसारी आत्मा मोहवश मिथ्यादृष्टि हो रहा है जिससे उसका ज्ञान और चारित्र भी विपरीताभिनिवेश को लिये हुए हो रहा है। चूंकि यह मोक्ष का प्रकरण है, इसलिये यहाँ इन भावों का निराकरण करने के लिये दर्शन, ज्ञान और चारित्र के पीछे सम्यक् विशेषण लगाया है।

सम्यक् विशेषणकी सार्थकता

इन तीनों में से सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान एक साथ होते हैं। आशय यह है कि ज्ञान में समीचीनता सम्यग्दर्शन के निमित्त से आती है, इसलिये जिस समय दर्शनमोहनीय के उपशम या क्षयोपशम से मिथ्यादर्शन दूर हो कर सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है उसी समय मिथ्याज्ञान का निराकरण हो कर सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति होती है। जैसे घन पटल के दूर होने पर सूर्य का प्रताप और प्रकाश एक साथ व्यक्त होते हैं उसी प्रकार सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान भी एक साथ व्यक्त होते हैं, इसलिये ये दोनों सहचारी हैं। किन्तु सम्यक् चारित्र का इस विषय में अनियम है। अर्थात् किसी के सम्यक्चारित्र सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के साथ प्रकट होता है और किसी के सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के प्रकट होने के कुछ काल बाद प्रकट होता है। तब भी सम्यक्चारित्र अकेला नहीं रहता यह निश्चित है।

साहचर्य सम्बन्ध

जैसे स्कन्ध, शाखा, प्रतिशाखा, पत्ते, फूल और गुच्छा इन सबके सिवा वृक्ष कोई स्वतंत्र पदार्थ नहीं, इसलिये ये प्रत्येक वृक्षस्वरूप हैं। तथापि प्रत्येक को सर्वथा वृक्षरूप मान लेने पर ये वृक्ष के अंग नहीं ठहरते, इसलिये ये प्रत्येक वृक्षरूप नहीं भी हैं। वैसे ही दर्शन, ज्ञान और चारित्र आदि अनन्त धर्मों के सिवा आत्मा कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है इसलिये ये ही प्रत्येक धर्म आत्मा-

साधन विचार

रूप हैं। तथापि प्रत्येक को सर्वथा आत्मारूप मान लेने पर ये आत्मा के धर्म नहीं ठहरते, इसलिये ये प्रत्येक आत्मारूप नहीं भी हैं। इस प्रकार विचार करने पर आत्मा से इन दर्शन आदि का कथंचित् अभेद और कथंचित् भेद प्राप्त होता है। जब अभेद विवक्षित होता है तब कर्तृ साधन द्वारा दर्शन, ज्ञान और चारित्र शब्द की सिद्धि होती है। यथा जो देखता है वह दर्शन, जो जानता है वह ज्ञान और जो आचरण करता है वह चारित्र। तथा जब आत्मा से दर्शन आदि में भेद विवक्षित होता है तब करण साधन या भावसाधन द्वारा इनकी सिद्धि होती है। यथा—जिसके द्वारा देखा जाता है वह दर्शन, जिसके द्वारा जाना जाता है वह ज्ञान और जिसके द्वारा चर्या की जाती है वह चारित्र। या देखने का भाव दर्शन, जानने का भाव ज्ञान और चर्यारूप भाव चारित्र।

मोक्षमार्गके एकत्व का समर्थन

सूत्र में जो 'मोक्षमार्गः' ऐसा एक वचन दिया है सो इससे यह सूचित होता है कि मोक्ष के तीन मार्ग नहीं हैं किन्तु सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीन का एकत्व मोक्ष का मार्ग है। 'मोक्षमार्ग' का अर्थ है आत्मा की शुद्धि का मार्ग। इन तीनों के प्राप्त हो जाने पर आत्मा द्रव्य कर्म, भाव कर्म, और नोकर्म से सर्वथा रहित हो जाता है इसलिये ये तीनों मिलकर मोक्षमार्ग है ऐसा सिद्ध होता है। १।

सम्यग्दर्शन का लक्षण—

तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् ॥ २ ॥

तत्त्वरूप अर्थों का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है।

दर्शन शब्द में दृश् धातु है जिसका अर्थ देखना है। पर मोक्ष मार्ग का प्रकरण होने से यहाँ उसका अर्थ श्रद्धान करना लिया गया है।

वह धर्म, जिसके होने पर पर से भिन्न स्वमें ही स्व का साक्षात् या आगमानुसार बोध होता है, सम्यग्दर्शन है। आशय यह है कि छद्मस्थ जीवों को आत्मा का साक्षात्कार नहीं होता, क्योंकि इन्द्रिय और मन की सहायता से होनेवाला या बिना इन्द्रिय और मन की सहायता से होनेवाला जितना भी क्षायोपशमिक ज्ञान है वह सावरण होने से रूपी पदार्थों को ही जान सकता है। यतः आत्मा अरूपी है इसलिये उसका क्षायोपशमिक ज्ञान के द्वारा साक्षात्कार न होकर निरावरण ज्ञान के द्वारा ही साक्षात्कार हो सकता है। इससे सिद्ध होता है कि छद्मस्थ जीव आगमानुसार आत्मा का श्रद्धान करते हैं। उनका अमूर्त पदार्थ विषयक समस्त अनुभव आगमाश्रित है प्रत्यक्षज्ञानाश्रित नहीं। यही कारण है कि प्रकृत में 'दर्शन' का अर्थ श्रद्धान किया है।

यह श्रद्धान विविध प्रकार का हो सकता है पर वह सब यहाँ विवक्षित न हो कर ऐसा श्रद्धान ही यहाँ विवक्षित है जो तत्त्वार्थ विषयक हो। इसीसे सूत्रकार ने तत्त्वार्थश्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहा है ॥ २ ॥

सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति के हेतु—

तन्निसर्गादधिगमाद्वा ॥ ३ ॥

वह (सम्यग्दर्शन) निसर्ग से अर्थात् उपदेश रूप बाह्य निमित्त के बिना या अधिगम से अर्थात् उपदेश रूप बाह्य निमित्त से उत्पन्न होता है।

यद्यपि निसर्ग का अर्थ स्वभाव है और अधिगम का अर्थ ज्ञान, तथापि प्रकृत में निसर्ग और अधिगम ये दोनों सापेक्ष शब्द होने से एक शब्द का जो अर्थ लिया जायगा दूसरे शब्द का उससे ठीक उलटा अर्थ होगा। यह तो मानी हुई बात है कि सम्यग्दर्शन की उत्पत्तिमात्र में ज्ञान की अपेक्षा रहती है। बिना तत्त्वज्ञान के सम्यग्दर्शन उत्पन्न

निसर्ग और अधिगम शब्द का अर्थ

नहीं होता, अतः प्रकृत में अधिगम का अर्थ ज्ञान न लेकर परोपदेश लिया है। और जब अधिगम का अर्थ परोपदेश हुआ तो निसर्ग का अर्थ परोपदेश के बिना अपने आप फलित हो जाता है।

निसर्गज और अधिगमज सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति में हेतुता

जैसे बच्चे को अपनी मातृभाषा सीखने के लिये किसी उपदेशक की आवश्यकता नहीं होती। वह प्रति दिन के व्यवहार से ही उसे स्वयं सीख लेता है, किन्तु अन्य भाषा के सीखने के लिये उसे उपदेशक लगता है। उसी प्रकार जो सम्यग्दर्शन उपदेश के बिना निसर्ग से उत्पन्न होता है वह निसर्गज सम्यग्दर्शन है और जो सम्यग्दर्शन परोपदेश से पैदा होता है वह अधिगमज सम्यग्दर्शन है। यहाँ इतना विशेष समझना कि निसर्गज सम्यदर्शन की उत्पत्ति में तत्त्वज्ञानजन्य पूर्व संस्कार काम करता है और अधिगमज सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति में साक्षात् परोपदेश काम करता है।

अन्य साधनोंका समन्वय

आगम में सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति के अनेक निमित्त बतलाये हैं। नरक गति में तीन निमित्त बतलाये हैं—जातिस्मरण, धर्मश्रवण और वेदनाभिभव। इनमें से धर्मश्रवण यह निमित्त तीसरे नरक तक ही पाया जाता है, क्योंकि देवों का आना जाना तीसरे नरक तक ही होता है, आगे के नरकों में नहीं। तिर्यंच गति और मनुष्य गति में तीन निमित्त पाये जाते हैं—जातिस्मरण, धर्मश्रवण और जिनबिम्बदर्शन। देवगति में चार निमित्त बतलाये हैं—जातिस्मरण, धर्मश्रवण, जिनमहिमादर्शन और देवऋद्धिदर्शन। ये चारों निमित्त सहस्रार स्वर्ग तक पाये जाते हैं। आगे देवऋद्धिदर्शन यह निमित्त नहीं पाया जाता। उसमें भी नौ ग्रैवेयकवासी देवों के जातिस्मरण और धर्मश्रवण ये दो निमित्त पाये जाते हैं। नौ अनुदिश और पाँच अनुत्तर के देव सम्यग्दृष्टि ही होते हैं अतएव वहाँ सम्यदर्शन की उत्पत्ति के निमित्त नहीं बतलाये। इनमेंसे

धर्मश्रवण इस निमित्त को छोड़ कर शेष निमित्तों से उत्पन्न होनेवाला सम्यग्दर्शन निसर्गज है, क्योंकि इस सम्यग्दर्शन के उत्पन्न होने में परोपदेश की आवश्यकता नहीं पड़ती और धर्मश्रवण इस निमित्त से उत्पन्न होनेवाला सम्यग्दर्शन अधिगमज है, क्योंकि यह सम्यग्दर्शन परोपदेश से उत्पन्न हुआ है। इसी प्रकार जो आज्ञासम्यक्त्व आदि रूप से सम्यग्दर्शन के दस भेद गिनाये हैं सो उनका भी इन दोनों प्रकार के सम्यग्दर्शनों में विचार कर अन्तर्भाव कर लेना चाहिये।

कालकी अप्रधानता

एक ऐसी मान्यता है कि प्रत्येक कार्य का काल नियत है उसी समय वह कार्य होता है अन्य काल में नहीं। जो ऐसा मानते हैं वे काल के सिवा अन्य निमित्तों को नहीं मानते। पर विचार करने पर ज्ञात होता है कि उनका ऐसा मानना युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि कार्य की उत्पत्ति में जैसे काल एक निमित्त है वैसे अन्य भी निमित्त हैं, अतः कार्य की उत्पत्ति में केवल काल को प्रधान कारण मानना उचित नहीं है।

सम्यग्दर्शनके अन्तरङ्ग कारण

अब तक सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति के बाह्य कारणों का विचार किया अब उन कारणों का विचार करते हैं जिनके होने पर सम्यग्दर्शन नियम से उत्पन्न होता है। सम्यग्दर्शन आत्मा का स्वभाव है पर वह दर्शनमोहनीयकर्म से घातित हो रहा है। किन्तु जब दर्शनमोहनीयकर्म का अभाव होता है तब आत्मा का वह स्वभाव प्रकट हो जाता है और इसे ही सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति कहते हैं। दर्शनमोहनीयकर्म का यह अभाव तीन प्रकार से होता है उपशम से क्षय से और क्षयोपशम से। जैसे जल में कतकादि द्रव्य के डालने से कीचड़ बैठ जाता है और पानी निर्मल हो जाता है। यद्यपि यहाँ कीचड़ का जल में से अभाव नहीं हुआ, वह वहाँ विद्यमान है, फिर भी वह उस अवस्था में काम नहीं करता है। इसी प्रकार दर्शनमोहनीयकर्म के उपशम हो जाने से सम्यग्दर्शन गुण

प्रकट हो जाता है। इसे उपशम सम्यग्दर्शन कहते हैं। आगम में उपशम के दो भेद किये हैं करणोपशम और अकरणोपशम। अधःकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण के द्वारा जो उपशम होता है वह करणोपशम है और इसके सिवा शेष उपशम अकरणोपशम कहलाता है। प्रकृत में उपशम से करणोपशम लिया है इसके होने पर औपशमिक सम्यग्दर्शन प्रकट होता है। जो सम्यग्दर्शन क्षय से होता है वह क्षायिक सम्यग्दर्शन है। क्षयका अर्थ है कर्म का आत्मा से सर्वथा जुदा हो जाना। यहाँ सम्यग्दर्शन का प्रकरण है, इस लिये जो कर्म सम्यग्दर्शन के प्रतिबन्धक हैं उनका अभाव ही विवक्षित है। जो सम्यग्दर्शन कर्मों के क्षयोपशम से होता है वह क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन है। क्षयोपशम का अर्थ है क्षय और उपशम। इसमें सम्यग्दर्शन के प्रतिबन्धक कर्मों के वर्तमान सर्वघाती निषेकों का उदयाभावी क्षय, आगामी काल में उदय में आने वाले सर्वघाती स्पर्धकों का सदवस्थारूप उपशम और देशघाती स्पर्धकों का उदय रहता है। सारांश यह है कि यह सम्यग्दर्शन देशघाती स्पर्धकों के उदय की प्रधानता से होता है। इस प्रकार सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति के अन्तरंग साधन सम्यग्दर्शन के विरोधी कर्मों का उपशम, क्षय या क्षयोपशम है यह सिद्ध होता है।

तत्त्वतः सम्यग्दर्शन एक है। ये तीन भेद निमित्त की प्रधानता से किये गये हैं, इसलिये यहाँ उनका उसी रूप से विवेचन किया है ॥३॥

तत्त्वों का नाम निर्देश—

जीवाजीवास्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वम् ॥ ४ ॥

जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये तत्त्व हैं।

ये जीवादि सात तत्त्व हैं जिनका इस ग्रन्थ में विस्तार से विवेचन किया है। तथापि यहाँ उनके स्वरूप का संक्षेप में निर्देश करते हैं।

जीव का मुख्य स्वभाव चेतना है जो ज्ञानादिक के भेद से अनेक प्रकारकी है। अजीव इससे विपरीत स्वभाववाला है। शुभ और अशुभ कर्मों के आने के द्वाररूप आस्रव तत्त्व है। आत्मा और कर्मों के प्रदेशों का परस्पर मिल जाना बन्ध है। आस्रव का रोकना संवर है। धीरे धीरे कर्मों का जुदा होना निर्जरा है और सब कर्मों का आत्मा से जुदा हो जाना मोक्ष है।

शंका—समयसार आदि ग्रन्थों में पुण्य और पाप को मिला कर नौ पदार्थ कहे गये हैं, इस लिये यहाँ तत्त्व सात न कह कर नौ कहने चाहिये।

समाधान—यह सही है कि समयसार आदि ग्रन्थों में पदार्थ नौ कहे गये हैं तथापि पुण्य और पाप का अन्तर्भाव आस्रव और बन्ध में हो जाता है, इसलिये यहाँ नौ तत्त्व न कहकर तत्त्व सात ही कहे हैं। आशय यह है कि ये पुण्य और पाप आस्रव और बन्ध के ही अवान्तर भेद हैं, इसलिये आस्रव और बन्धका विशेष विवेचन करने से पुण्य और पाप का स्वरूप समझ में आ ही जाता है इसलिये यहाँ इनका अलगसे निर्देश नहीं कया।

शंका—यदि ऐसा है तो आस्रवादि पाँच तत्त्वों का भी अलग से कथन नहीं करना चाहिये, क्योंकि ये भी जीव और अजीव के भेद हैं?

समाधान—यद्यपि यह कहना सही है कि आस्रवादि पाँच तत्त्व जीव और अजीव के भेद होने से इनका कथन अलग से नहीं करना चाहिये, तथापि यहाँ मोक्ष का प्रकरण है और उसकी प्राप्ति में इनका ज्ञान कराना आवश्यक है इस लिये इनका अलग से विवेचन किया है। आशय यह है कि प्रस्तुत शास्त्र की रचना आत्महित की दृष्टि से की गई है और सच्चा आत्महित मोक्ष की प्राति हुए बिना सध नहीं सकता, इस लिये मोक्ष की प्राप्ति में मुख्य रूप से जिन वस्तुओं का ज्ञान कराना

आवश्यक है उनका यहाँ तत्त्वरूप से उल्लेख किया है। मुख्य साध्य मोक्ष है इस लिये सात तत्त्वों में मोक्ष का नामोल्लेख किया है। किन्तु इसके प्रधान कारणों को जाने बिना मोक्षमार्ग में प्रवृत्ति हो नहीं सकती, इस लिये सात तत्त्वों में मोक्ष के प्रधान कारण रूप से संवर और निर्जरा का नामोल्लेख किया है। मोक्ष संसार पूर्वक होता है और संसार के प्रधान कारण आस्रव और बन्ध है, इस लिये सात तत्त्वों में इनका नामोल्लेख किया है। किन्तु यह सब व्यवस्था जीव और अजीव के संयोग और वियोग पर अवलम्बित है इस लिये इन दोनों का सात तत्त्वों में नामोल्लेख किया है। इस प्रकार आत्महित को चाहनेवाले जिज्ञासु को इन सबको जान लेना आवश्यक है इस लिये तत्त्व सात कहे हैं। मोक्ष का अधिकारी जीव है इस लिये तो जीव तत्त्व कहा गया है। किन्तु जीव की अशुद्ध अवस्था के होने में पुद्गल निमित्त है, इस लिये अजीव तत्त्व कहा गया है। जीव और अजीव का संयोग आस्रवपूर्वक होता है इस लिये आस्रव और बन्ध तत्त्व कहे गये हैं। अब यदि अपनी अशुद्ध अवस्था और पुद्गल की निमित्तता से छुटकारा पाना है तो वह संवर और निर्जरापूर्वक ही प्राप्त हो सकता है इस लिये संवर और निर्जरा तत्त्व कहे गये हैं। तात्पर्य यह है कि यहाँ संसार के सब पदार्थों को बतलाने की दृष्टि से सात तत्त्वों का विवेचन न करके आध्यात्मिक दृष्टि से विवेचन किया गया है॥ ४॥

निक्षेपों का नाम निर्देश—

नामस्थापनाद्रव्यभावतस्तन्न्यासः ॥ ५ ॥

नाम, स्थापना, द्रव्य और भावरूप से उनका अर्थात् सम्यग्दर्शन आदि और जीव आदि का न्यास अर्थात् निक्षेप होता है।

लोक में या आगम में जितना शब्द व्यवहार होता है वह कहीं

किस अपेक्षा से किया जा रहा है इस गुत्थी को सुलझाना ही निक्षेप व्यवस्था का काम है। प्रयोजन के अनुसार एक ही शब्द के अनेक अर्थ हो जाते हैं। महाभारत में 'अश्वत्थामा हतः' युधिष्ठिर के इतने कहनेमात्र से युद्ध की दिशा ही बदल गई। 'आज महावीर भगवान का जन्म दिन है' यह सुनते ही सुषुप्त धार्मिक वृत्ति जाग उठती है। वह दिन महान दिन प्रतीत होने लगता है। इससे ज्ञात होता है कि एक ही शब्द प्रसंगानुसार विविध अर्थों का जतानेवाला हो जाता है। इस प्रकार यदि एक शब्द के मुख्य अर्थ देखे जाँय तो वे चार होते हैं। ये ही चार अर्थ उस शब्द के अर्थ को दृष्टि से चार भेद हैं। ऐसे भेद ही न्यास या निक्षेप कहलाते हैं। इनको जान लेने से प्रकृत अर्थ का बोध होता है और अप्रकृत अर्थ का निराकरण। इसी बात को ध्यान में रख कर सूत्रकारने प्रकृत सूत्र में निक्षेप के चार भेद किये हैं। इससे यहाँ सम्यग्दर्शन और जीवाजीवादि का क्या अर्थ इष्ट है यह ज्ञात हो जाता है। वे निक्षेप ये हैं—नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव। १—जिसमें व्युत्पत्ति की प्रधानता नहीं है किन्तु जो माता, पिता या इतर लोगों के संकेत बल से जाना जाता है वह अर्थ नाम निक्षेप का विषय है। जैसे—एक ऐसा आदमी जिसमें पुजारी के योग्य एक भी गुण नहीं हैं पर किसी ने जिसका नाम पुजारी रखा है वह नाम पुजारी है। २—जो वस्तु असली वस्तु की प्रतिकृति, मूर्ति या चित्र है या जिसमें असली वस्तु का आरोप किया गया है वह स्थापना निक्षेप का विषय है। जैसे किसी पुजारी की मूर्ति या चित्र आदि। ३—जो अर्थ भाव का पूर्व या उत्तर रूप हो वह द्रव्य निक्षेप का विषय है। जैसे—जो वर्त्तमान में पूजा नहीं कर रहा है किन्तु कर चुका है या करेगा वह द्रव्यपुजारी है। जिस अर्थ* में शब्द का व्युत्पत्ति

निक्षेप के भेद

* नाम दो तरह के होते हैं—यौगिक और रौढ़िक। पुजारी, रसोइया

या प्रवृत्तिनिमित्त वर्तमान में बराबर घटित हो वह भाव निक्षेप का विषय है। जैसे—जो वर्तमान में पूजा करता है वह भाव पुजारी है।

इसी प्रकार सम्यग्दर्शन आदि के और जीव अजीव आदि तत्त्वों के भी चार चार निक्षेप किये जा सकते हैं परन्तु यहाँ वे सब भावरूप ही लिये हैं। इनमें से प्रारम्भ के तीन निक्षेप सामान्यरूप होने से द्रव्यार्थिक नय के विषय हैं और भाव पर्याय रूप होने से पर्यायार्थिक नय का विषय है॥ ५॥

तत्त्वों के जानने के उपाय—

प्रमाणनयैरधिगमः ॥ ६ ॥

प्रमाण, और नयों से पदार्थों का ज्ञान होता है।

जितना भी समीचीन ज्ञान है वह प्रमाण और नय इन दो भागों में बटा हुआ है। अंश-अंशी या धर्म-धर्मी का भेद किये बिना वस्तु का जो अखण्ड ज्ञान होता है वह प्रमाणज्ञान है तथा धर्म-धर्मी का भेद होकर धर्म द्वारा वस्तु का जो ज्ञान होता है वह नयज्ञान है। मतिज्ञान, अवधिज्ञान मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान ये चार ज्ञान ऐसे हैं जो धर्म-धर्मी का भेद किये बिना वस्तु को जानते हैं इसलिये ये सबके सब प्रमाण ज्ञान हैं। किन्तु श्रुतज्ञान विचारात्मक होने से उसमें कभी धर्म-धर्मी का भेद किये बिना वस्तु प्रतिभासित होती है और कभी धर्म-धर्मी का भेद होकर वस्तु का बोध होता है। जब जब धर्म-धर्मी का भेद किये बिना वस्तु प्रतिभासित होती है तब तब वह श्रुतज्ञान प्रमाणज्ञान

आदि यौगिक शब्द हैं और गाय भैंस आदि रौढ़िक शब्द हैं। यौगिक शब्द जिस अर्थ को कहते हैं उसमें शब्द का व्युत्पत्तिनिमित्त घटित होता है और रौढ़िक शब्द जिस अर्थ को कहते हैं उसमें शब्द का प्रवृत्तिनिमित्ति घटित होता है।

कहलाता है और जब जब उसमें धर्म-धर्मी का भेद होकर धर्म द्वारा वस्तु का ज्ञान होता है तब तब वह नयज्ञान कहलाता है। इसी कारण से नयों को श्रुतज्ञान का भेद बतलाया है। उदाहरणार्थ 'जीव है' ऐसा मनका विकल्प प्रमाणज्ञान है। यद्यपि जीवका व्युत्पत्त्यर्थ 'जो जीता है वह जीव' इस प्रकार होता है तथापि जिस समय 'जीव है' यह विकल्प मनमें आया उस समय उस विकल्पद्वारा 'जो चेतनादि अनन्त गुणों का पिण्ड है' वह पदार्थ समझा गया इस लिये यह ज्ञान प्रमाणज्ञान ही हुआ। तथा नित्यत्व धर्म द्वारा 'आत्मा नित्य है' ऐसा मन का विकल्प नयज्ञान है क्योंकि यहाँ धर्म-धर्मी का भेद होकर एक धर्म द्वारा धर्मी का बोध हुआ। आशय यह है कि इन्द्रिय और मनकी सहायता से या इन्द्रिय और मनकी सहायता के बिना जो पदार्थ का ज्ञान होता है वह सबका सब प्रमाणज्ञान है किन्तु उसके बाद उस पदार्थ के विषय में उसकी विविध अवस्थाओं की अपेक्षा क्रमशः जो विविध मानसिक विकल्प होते हैं वे सब नयज्ञान हैं। प्रमाण को जो सकलादेशी और नय को जो विकलादेशी कहा है उसका यही भाव है। इस प्रकार प्रमाण और नयों से पदार्थों का ज्ञान होता है यह निश्चित होता है॥ ६॥

तत्त्वों का विस्तृत ज्ञान प्राप्त करने के लिये कुछ अनुयोगद्वारों का निर्देश—

निर्देशस्वामित्वसाधनाधिकरणस्थितिविधानतः ॥ ७ ॥

सत्संख्याक्षेत्रस्पर्शनकालान्तरभावाल्पबहुत्वैश्च ॥ ८ ॥

निर्देश, स्वामित्व, साधन, अधिकरण स्थिति और विधान से।

तथा सत्, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव और अल्प-बहुत्व से सम्यग्दर्शन आदि का ज्ञान होता है।

यदि किसी वस्तु का ज्ञान प्राप्त करना हो या ज्ञान कराना हो तो इसके लिये १—उस वस्तु का नाम क्या है, २—उसका स्वामी कौन

है, ३—किन साधनों से वह बनी है, ४—वह कहाँ रखी रहती है, ५—उसकी काल मर्यादा क्या है और ६—उसके भेद कितने हैं इन छह बातों का ज्ञान करना कराना आवश्यक है। यदि इतनी बातें जान ली जाती हैं तो उस वस्तु का परिपूर्ण ज्ञान समझा जाता है। आगम में ये छह अनुयोगद्वार कहलाते हैं। वहाँ मूल वस्तु को समझने के लिये इन छह बातों का ज्ञान करना आवश्यक बतलाया है। इसके अतिरिक्त विशेष जानकारी के लिये आठ अनुयोगद्वार और बतलाये हैं। प्रस्तुत दो सूत्रों में इन्हीं अनुयोगद्वारों का संग्रह किया गया है।

अधिकतर आगम ग्रन्थों में जीवादि पदार्थों के कथन करने के दो प्रकार दृष्टिगोचर होते हैं। प्रथम प्रकार तो यह है कि अन्य आधार के बिना वस्तु का स्वरूप, उसका स्वामी, उसके उत्पत्ति के साधन, उसके रहने का आधार, उसकी काल मर्यादा और उसके भेद इन सब बातों का कथन किया जाय और दूसरा प्रकार यह है कि जीवादि पदार्थों के अस्तित्व आदि का कथन सामान्य से या गुणस्थान व गति आदि मार्गणाओं के आधार से किया जाय। सूत्रकार ने प्रस्तुत दोनों सूत्रों में प्ररूपणाओं के इन्हीं दोनों क्रमों का निर्देश किया है। यहाँ उक्त दोनों प्रकार की प्ररूपणाओं को लेकर संक्षेप में सम्यग्दर्शन पर विचार किया जाता है।

१ निर्देश—'तत्त्वश्रद्धा सम्यग्दर्शन है' ऐसा कथन करना निर्देश है। २ स्वामित्व—सामान्य से सम्यग्दर्शन जीव के ही होता है, अजीव के नहीं; क्योंकि वह जीव का धर्म है। ३ साधन—साधन दो प्रकार का है—अन्तरङ्ग और बाह्य। दर्शन मोहनीय का उपशम, क्षय और क्षयोपशम ये सम्यग्दर्शन के अन्तरंग साधन हैं। इनमें से किसी एक के होने पर सम्यग्दर्शन होता है। तथा जातिस्मरण, धर्मश्रवण, प्रतिमादर्शन, वेदनाभिभव आदि बाह्य साधन हैं। ४ अधिकरण—सम्यग्दर्शन जीव में ही होता है, अन्यत्र नहीं, इसलिये सम्यग्दर्शन

का अधिकरण जीव ही है। ५ स्थिति—औपशमिक सम्यग्दर्शन की जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त है। संसारी जीव के क्षायिक सम्यग्दर्शन की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट स्थिति आठ वर्ष अन्तर्मुहूर्त कम दो पूर्वकोटि अधिक तेतीस सागर है। यद्यपि क्षायिक सम्यग्दर्शन सादि अनन्त है पर यहाँ उसकी स्थिति उसके धारक जीव के संसार में रहने की अपेक्षा से बतलाई है। क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट स्थिति छ्यासठ सागर है। ६ विधान—सामान्य से सम्यग्दर्शन एक है, निसर्गज और अधिगमज के भेद से दो प्रकारका है। औपशमिक आदि के भेद से तीन प्रकारका है। शब्दों की अपेक्षा सम्यग्दर्शन के संख्यात भेद हैं, श्रद्धान करनेवालों की अपेक्षा असंख्यात भेद हैं और श्रद्धान करने योग्य पदार्थों की अपेक्षा अनन्त भेद हैं।

जैसा कि पहले लिख आये हैं आगम में सत् संख्या आदि आठ प्ररूपणाओं का कथन सामान्य से या गुणस्थान और मार्गणाओं की अपेक्षा से किया जाता है। यहाँ इन सब की अपेक्षा कथन करने से विषय बढ़ जाता है इसलिये सामान्य से निर्देश किया जाता है। विशेष जानकारी के लिये सर्वार्थसिद्धि देखें।

१ सत्—सम्यत्व आत्मा का गुण है इसलिये वह सब जीवों के पाया जाता है पर वह भव्य जीवों में ही प्रकट होता है।

२ संख्या—सम्यग्दृष्टि कितने हैं इस अपेक्षा से सम्यग्दर्शन की संख्या बतलाई जाती है। संसार में सम्यग्दृष्टि पल्य के असंख्यातवें भाग प्रमाण हैं और मुक्त सम्यग्दृष्टि अनन्त हैं।

३ क्षेत्र—सम्यग्दृष्टि जीव लोक के असंख्यातवें भाग प्रमाण क्षेत्र में पाये जाते हैं, इसलिये सम्यग्दर्शन का क्षेत्र लोक का असंख्यातवाँ भाग हुआ। पर केवलिसमुद्घात के समय यह जीव सब लोक को भी व्याप्त कर लेता है, इसलिये सम्यग्दर्शन का सर्वलोक क्षेत्र भी प्राप्त होता है।

४ स्पर्शन —सम्यग्दृष्टियों ने लोक के असंख्यातवें भाग क्षेत्र का, त्रस नाली के चौदह भागों में से कुछ कम आठ भाग प्रमाण क्षेत्र का और सयोगकेवली की अपेक्षा सर्वलोक क्षेत्र का स्पर्शन किया है।

५ काल—एक जीव की अपेक्षा सम्यग्दर्शन का काल सादि-सान्त और सादि-अनन्त दोनों प्रकार का प्राप्त होता है पर नाना जीवों की अपेक्षा वह अनादि-अनन्त है, क्योंकि सम्यग्दृष्टि जीव सदा पाये जाते हैं।

६ अन्तर—नाना जीवों की अपेक्षा अन्तर नहीं है। एक जीव की अपेक्षा जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अन्तर कुछ कम अर्ध-पुद्गल परिवर्तन प्रमाण है।

७ भाव—सम्यग्दृष्टि यह औपशमिक, क्षायोपशमिक या क्षायिक भाव है।

८ अल्पबहुत्व—औपशमिक सम्यग्दृष्टि सबसे थोड़े हैं। उनसे संसारी क्षायिक सम्यग्दृष्टि असंख्यातगुणे हैं। उन से क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि असंख्यातगुणे हैं। उन से मुक्त क्षायिक सम्यग्दृष्टि अनन्त-गुणे हैं ॥ ७–८ ॥

सम्यग्ज्ञान के भेद—

मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानम् ॥ ९॥

मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल ये पाँच ज्ञान हैं।

प्रस्तुत सूत्र में सम्यग्ज्ञान के पाँच भेद किये हैं। यद्यपि सूत्र में सिर्फ ज्ञान पद है सम्यग्ज्ञान पद नहीं, तथापि सम्यक्त्व का अधिकार होने से यहाँ ज्ञान से सम्यग्ज्ञान ही लिया गया है। इस से यह बात और फलित होती है कि सम्यक्त्व सहचरित जितना भी ज्ञान होता है वह सबका सब सम्यग्ज्ञान रूप ही होता है। सम्यग्ज्ञान का लक्षण ही यह है कि सम्यक्त्व सहित जो ज्ञान वह सम्यग्ज्ञान।

शंका—तत्त्वतः सम्यग्ज्ञान का लक्षण जो वस्तु को यथावत् जाने वह सम्यग्ज्ञान; ऐसा होना चाहिये। पर प्रकृत में इसका ऐसा लक्षण न करके सम्यक्त्व सहित ज्ञान को सम्यग्ज्ञान कहा है सो क्यों?

समाधान—व्यवहार में या न्यायशास्त्र में जैसे विषय की दृष्टि से ज्ञान की प्रमाणता और अप्रमाणता का निश्चय किया जाता है, अर्थात् जो ज्ञान घड़े को घड़ा जानता है वह प्रमाणज्ञान माना जाता है और जो ज्ञान वस्तु को वैसा नहीं जानता है वह अप्रमाण ज्ञान माना जाता है। वैसे ही अध्यात्म शास्त्र में जिसे आत्मविवेक प्राप्त है उसका ज्ञान सम्यग्ज्ञान माना गया है और जिसे आत्मविवेक नहीं प्राप्त है उसका ज्ञान मिथ्याज्ञान माना गया है। अध्यात्म शास्त्र में बाह्य वस्तु के जानने और न जानने के आधार से सम्यग्ज्ञान और मिथ्याज्ञान का विचार नहीं किया जाता, क्योंकि यह ज्ञान ज्ञान के बाह्य साधनों पर अवलम्बित है। पर बाह्य वस्तु के हीनाधिक या विपरीत जानने मात्र से सम्यक्त्वी का अध्यात्मदृष्टि से कुछ भी बिगाड़ नहीं होता; उसका वास्तविक बिगाड़ तो तब हो जब वह आत्मविवेक को ही खो बैठे। पर सम्यक्त्व के रहते हुए ऐसा होता नहीं, वह सदा ही वासनाओं से छुटकारा पाने और आत्मिक उन्नति करने के लिए छटपटाता रहता है। इसी कारण से सम्यक्त्वी के ज्ञान मात्र को सम्यग्ज्ञान कहा है।

ऐसे सम्यग्ज्ञान पाँच हैं—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान। प्रत्येक आत्मा का स्वभाव ज्ञान है और वह किसी भी प्रकार की अपेक्षा से रहित है, इसलिए केवलज्ञान कहलाता है। किन्तु संसारी आत्मा अनादि काल से कर्म-बन्धन से बद्ध होने के कारण उसका वह केवलज्ञान घातित हो रहा है और इस घात के परिणामस्वरूप ही ज्ञान के उक्त पाँच भेद हो जाते हैं। इन

ज्ञानों का विस्तृत वर्णन इसी अध्याय में आगे किया ही है इसलिए यहाँ उनके स्वरूप का निर्देशमात्र करते हैं—

१—इन्द्रिय और मन की सहायता से जो ज्ञान होता है वह मतिज्ञान है। २—मतिज्ञान से जाने हुए पदार्थ का अवलम्बन लेकर मतिज्ञानपूर्वक जो अन्य पदार्थ का ज्ञान होता है वह श्रुतज्ञान है। ३—द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की मर्यादा लिये हुए इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना जो रूपी पदार्थ का ज्ञान होता है वह अवधिज्ञान है। ४—द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की मर्यादा लिये हुए जो इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना दूसरे के मन की अवस्थाओं का ज्ञान होता है वह मनःपर्ययज्ञान है। ५—तथा जो त्रिकालवर्ती समस्त पदार्थों को युगपत् जानता है वह केवलज्ञान है ॥९॥

प्रमाण चर्चा—

तत् प्रमाणे ॥ १० ॥

आद्ये परोक्षम् ॥ ११ ॥

प्रत्यक्षमन्यत् ॥ १२ ॥

वह पाँचों प्रकार का ज्ञान दो प्रमाणरूप है।
प्रथम के दो ज्ञान परोक्ष प्रमाण हैं।
शेष सब ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण हैं।

अंश-अंशी या धर्म-धर्मीका भेद किये बिना वस्तु का जो ज्ञान होता है वह प्रमाणज्ञान है। प्रमाणज्ञान का यह सामान्य लक्षण उक्त पाँचों ज्ञानों में पाया जाता है इसलिए वे पाँचों ही ज्ञान प्रमाण माने गये हैं। तथापि वह प्रमाण एक प्रकार का नहीं है किन्तु परोक्ष और प्रत्यक्ष के भेद से दो प्रकार का है। इनमें से जो ज्ञान इन्द्रिय और मन की सहायता

प्रमाण और उसके भेद

से उत्पन्न होता है वह परोक्ष है और जो ज्ञान इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना केवल आत्मा की योग्यता के यथायोग्य बल से उत्पन्न होता है वह प्रत्यक्ष है। उक्त पाँचों ज्ञान अपनी अपनी योग्यतानुसार प्रमाण के इन दो भेदों में बँटे हुए हैं; मति और श्रुत ये दो ज्ञान इन्द्रिय और मन की सहायता से होने के कारण परोक्ष प्रमाण कहलाते हैं तथा अवधि, मनपर्यय और केवल ये तीन ज्ञान इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना सिर्फ आत्मा की योग्यता से उत्पन्न होने के कारण प्रत्यक्ष प्रमाण कहलाते हैं।

राजवार्तिक आदि ग्रन्थों में अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान को प्रत्यक्ष प्रमाण मान कर भी मतिज्ञान को सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष और स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान व आगम इन ज्ञानों को परोक्ष कहा है परन्तु यहाँ प्रत्यक्ष और परोक्ष का यह लक्षण स्वीकृत नहीं है। यहाँ तो परोक्ष में पर शब्द से इन्द्रिय और मन तथा प्रकाश और उपदेश आदि बाह्य साधन लिये हैं तथा प्रत्यक्ष में अक्ष शब्द से आत्मा लिया है, इसलिए इस व्यवस्था के अनुसार मतिज्ञान भी यद्यपि परोक्ष प्रमाण ठहरता है तथापि राजवार्तिक आदि में लौकिक दृष्टि से उसे प्रत्यक्ष कहा है।

अन्य दर्शनों में अक्ष का अर्थ इन्द्रिय करके इन्द्रियजन्य ज्ञान को प्रत्यक्ष और उसके सिवा शेष ज्ञानों को परोक्ष बतलाया है। किन्तु प्रत्यक्ष और परोक्ष के इस लक्षण के अनुसार योगी का ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं ठहरता जो उक्त दर्शनकारों को भी इष्ट नहीं है। अतः प्रत्यक्ष और परोक्ष के वे ही लक्षण युक्तियुक्त हैं जो प्रारम्भ में दिये हैं।

मतिज्ञान के पर्यायवाची नाम—

मतिः स्मृतिः संज्ञा चिन्ताऽभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम् ॥१३॥

मति, स्मृति, संज्ञा, चिन्ता और अभिनिबोध ये शब्द एकार्थ-वाचक हैं।

प्रस्तुत सूत्र में जो मति, स्मृति आदि शब्द कहे गये हैं ये मतिज्ञान के पर्य्यायवाची नाम हैं या इन शब्दों द्वारा मतिज्ञान के भेद कहे गये हैं? यह एक शंका है जिसके समुचित उत्तर में ही इस सूत्र की व्याख्या सन्निहित है, इसलिये सर्वप्रथम इसी पर विचार किया जाता है—

आगम ग्रन्थों में ज्ञान के पाँच भेद बतलाते हुए मतिज्ञान इस नाम के स्थान में आभिनिबोधिक ज्ञान यह नाम आया है, किन्तु धीरे धीरे मतिज्ञान शब्द रूढ़ होने लगा। सर्वप्रथम आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में मतिज्ञान शब्द पाया जाता है। इसके बाद तत्त्वार्थसूत्र में यह नाम आया है।

इससे इतना तो स्पष्ट हो ही जाता है कि आगम ग्रन्थों में आभिनिबोधिक ज्ञान का जो अर्थ इष्ट है तत्त्वार्थसूत्र में वही अर्थ मतिज्ञान शब्द से लिया गया है। अब हमें यह देखना है कि आगम में आभिनिबोधिक ज्ञान का क्या अर्थ स्वीकृत है? वास्तव में देखा जाय तो मूल ग्रन्थों में किसी भी शब्द का लाक्षणिक अर्थ नहीं पाया जाता। तथापि वहाँ जो इस ज्ञान के अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा प्रमुख तीन सौ छत्तीस भेद किये हैं इससे स्पष्ट हो जाता है कि बहुत प्राचीन काल से आभिनिबोधिक ज्ञान का अर्थ 'जो ज्ञान इन्द्रिय और मन की सहायता से वर्तमान विषय को जानता है वह आभिनिबोधिक ज्ञान है' ऐसा होता आया है। तत्त्वार्थसूत्र में भी मतिज्ञान के वे ही तीन सौ छत्तीस भेद गिनाये हैं, अतः इससे जाना जाता है कि यहाँ भी मतिज्ञान का वही अर्थ विवक्षित है जो आगमों में आभिनिबोधिक ज्ञान का लिया गया है। इस प्रकार मतिज्ञान के केवल वर्तमानग्राही

मति आदि पर्याय वाची हैं इसका समर्थन

ठहरने पर उसमें स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क और अनुमान ज्ञान के अन्तर्भाव न हो सकने से मति, स्मृति, संज्ञा, चिन्ता और अभिनिबोध इन्हें मतिज्ञान के पर्यायवाची ही मानने चाहिये, मतिज्ञान के भेद नहीं। ये मतिज्ञान के पर्यायवाची नाम ही हैं इसकी पुष्टि षट्खण्डागम के प्रकृति अनुयोगद्वार से भी होती है। वहाँ आभिनिबोधिकज्ञान का निरूपण करने के बाद एक सूत्र आया है जिसका भाव है कि 'अब आभिनिबोधिक ज्ञान की अन्य प्ररूपणा करते हैं।' और इसके बाद वहाँ क्रमशः अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा और आभिनिबोधिक ज्ञान के पर्यायवाची नाम दिये हैं। प्रकृति अनुयोगद्वार का यह उल्लेख ऐसा है जिससे भी मति आदिक मतिज्ञान के पर्यायवाची नाम ठहरते हैं।

तत्त्वार्थसूत्र की टीकाओं के निम्न उल्लेखों से भी इसकी पुष्टि होती है—

(१) सर्वार्थसिद्धि में लिखा है कि यद्यपि इन शब्दों में प्रकृति भेद है तो भी ये रूढि से एक ही अर्थ को जनाते हैं।

(२) राजवार्तिक में भी इसी प्रकार का अभिप्राय दरसाया है।

मतिज्ञान वर्तमान अर्थ को विषय करता है और श्रुतज्ञान त्रिकालवर्ती अर्थ को विषय करता है। इससे भी ज्ञात होता है कि 'मतिः स्मृतिः' इस सूत्र में जो स्मृति आदि शब्द आये हैं उनका अर्थ स्मरण ज्ञान, प्रत्यभिज्ञान, तर्क और अनुमान नहीं है। सर्वार्थसिद्धि में बतलाया है कि 'इन्द्र, शक्र और पुरन्दर इन शब्दों में प्रकृति भेद के होने पर भी जैसे एक ही देवराज इन नामों द्वारा पुकारा जाता है वैसे ही मति, स्मृति, संज्ञा, चिन्ता और अभिनिबोध इन शब्दों में यद्यपि प्रकृति भेद है तो भी वे एक ही मतिज्ञान के पर्यायवाची नाम हैं।' सो इस कथन से भी उक्त अर्थ की ही पुष्टि होती है।

आचार्य अकलंक देव ने लघीयस्त्रय में एक चर्चा उठाई है। प्रश्न

यह है कि नय† किस ज्ञान के भेद हैं ? इसका समाधान करते हुए वे लिखते हैं कि मतिज्ञान वर्तमान अर्थ को विषय करता है और नय त्रिकालगोचर अनेक द्रव्य और पर्यायों को विषय करते हैं इसलिये नय मतिज्ञान के भेद नहीं हैं। इस पर फिर शंका हुई कि यदि मतिज्ञान वर्तमान अर्थ को ही विषय करता है तो वह स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, चिन्ता और अभिनिबोधरूप कैसे हो सकता है ? इस शंका का उन्होंने जो समाधान किया है उसका भाव यह है कि स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, चिन्ता और अभिनिबोध रूप जो मनोमति है वह कारणमति से जाने गये अर्थ को ही विषय करती है, इसलिये मतिज्ञान को वर्तमान अर्थग्राही मानने में कोई बाधा नहीं आती। सो इस कथन से ऐसा ज्ञात होता है कि अकलंक देव ने अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणारूप कारणमति से यद्यपि स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, चिन्ता और अभिनिबोध रूप मति में किसी अपेक्षा से भेद स्वीकार कर लिया है फिर भी उन्होंने इनके विषय में भेद नहीं माना है। तत्त्वार्थसूत्र में और उसके टीका ग्रन्थों में मतिज्ञान के जो ३३६ भेद गिनाये हैं उनको देखने से ऐसा ही ज्ञात होता है कि स्मृति आदिको मति से किसी ने भी जुदा नहीं माना है, इसलिये ये मति आदि मतिज्ञान के पर्यायवाची नाम हैं ऐसा यहाँ जानना चाहिये ॥१३॥

अन्य मत का उल्लेख

मतिज्ञान की प्रवृत्ति के निमित्त—

तदिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तम् ॥ १४ ॥

वह अर्थात् मतिज्ञान इन्द्रिय और अनिन्द्रियरूप निमित्त से उत्पन्न होता है।

---

† 'न हि मतिभेदा नयाः त्रिकालगोचरानेकद्रव्यपर्यायविषयत्वात्, मतेः साम्प्रतिकार्थग्राहित्वात्। मनोमतेरपि स्मृतिप्रत्यभिज्ञानचिन्ताभिनिबोधात्मकायाः कारणमतिपरिच्छिन्नार्थविषयत्वात्।' लघी० वि० श्लो० ६६–६७।

पहले पाँच ज्ञान बतला आये हैं। उनमें से सर्वप्रथम जो मतिज्ञान है वह उपयोगरूप कैसे होता है यह प्रस्तुत सूत्र में बतलाया है। इन्द्रियाँ पाँच हैं-स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र। इनके निमित्त से तथा अनिन्द्रिय अर्थात् मनके निमित्त से मतिज्ञान की प्रवृत्ति होती है यह इस सूत्र का भाव है।

शंका—स्पर्शन आदि को इन्द्रिय क्यों कहा ?

समाधान—स्पर्शन आदि को इन्द्रिय कहने के अनेक कारण हैं जिनमें से कुछ ये हैं—एक तो इन्द्रिय में इन्द्र शब्द का अर्थ आत्मा है। किन्तु जब तक यह आत्मा कर्मों से आवृत रहता है तब तक स्वयं पदार्थों को जानने में असमर्थ रहने के कारण इन स्पर्शन आदि के द्वारा उनका ज्ञान होता है इसलिये वे इन्द्रिय कहलातीं हैं। दूसरे इनके द्वारा सूक्ष्म आत्मा के अस्तित्व की पहिचान की जाती है अतः वे इन्द्रिय कहलाती हैं। तीसरे इन्द्र शब्द का अर्थ नामकर्म होने से इनके द्वारा उनकी रचना होती है इसलिये वे इन्द्रिय कहलाती हैं।

शंका—जिन कारणों से स्पर्शन आदि को इन्द्रिय कहा है वे कारण मन में भी तो पाये जाते हैं फिर उसे अनिन्द्रिय क्यों कहा ?

समाधान—इन्द्रियों के समान मन अवस्थित स्वभाववाला न हो कर चंचल है, वह निरन्तर विविध विषयों में भटकता रहता है इसलिये उसे अनिन्द्रिय कहा है।

शंका—मतिज्ञान की उत्पत्ति में इन्द्रिय और मन के समान प्रकाश आदि भी तो निमित्त हैं उनका यहाँ संग्रह क्यों नहीं किया ?

समाधान—जैसे इन्द्रिय और मन से मतिज्ञान की उत्पत्ति देखी जाती है वैसे प्रकाश आदि से नहीं, क्योंकि किसी को प्रकाश आदि की आवश्यकता पड़ती है और किसी को नहीं इसलिये प्रकाश

आदि मतिज्ञान की उत्पत्ति में नियत साधन न होने से उनका यहाँ संग्रह नहीं किया ॥ १४ ॥

मतिज्ञान के भेद—

अवग्रहेहावायधारणाः ॥ १५ ॥

अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा ये चार मतिज्ञान के भेद हैं।

अवग्रह आदि का स्वरूप

ज्यों ही इन्द्रिय विषय को ग्रहण करने के लिये प्रवृत्त होती है त्यों ही स्वप्रत्यय होता है जिसे दर्शन कहते हैं और तदनन्तर विषय का ग्रहण होता है जो अवग्रह कहलाता है। जैसे यह मनुष्य है ऐसा ज्ञान होना अवग्रह है। किन्तु यह ज्ञान इतना कमजोर होता है कि इसके बाद संशय हो सकता है, इसलिये संशयापन्न अवस्था को दूर करने के लिये या पिछले ज्ञान को व्यवस्थित करने के लिये जो ईहन अर्थात् विचारणा या गवेषणा होती है वह ईहा है। जैसे जो मैंने देखा है वह मनुष्य ही होना चाहिये ऐसा ज्ञान ईहा है। ईहा के होने पर भी जाना हुआ पदार्थ मनुष्य ही है ऐसे अवधान अर्थात् निर्णय का होना अवाय है। तथा जाने हुए पदार्थ को कालान्तर में नहीं भूलने की योग्यता का उत्पन्न हो जाना ही धारणा है। यह धारणा ही स्मृति आदि ज्ञानों की जननी है। आशय यह है कि जिस पदार्थ का धारणा ज्ञान नहीं होता उसका कालान्तर में स्मरण सम्भव नहीं।

पिछले सूत्र में मतिज्ञान की उत्पत्ति के जो पाँच इन्द्रिय और एक अनिद्रिय ये छह निमित्त बतलाये हैं उन सब से ये अवग्रह आदि चारों ज्ञान उत्पन्न होते हैं इसलिये मतिज्ञान के चौबीस भेद हो जाते हैं जो निम्नलिखित कोष्ठक में दरसाये गये हैं—

स्पर्शन	अवग्रह	ईहा	अवाय	धारणा
रसन	”	”	”	”
घ्राण	”	”	”	”
चक्षु	”	”	”	”
श्रोत्र	”	”	”	”
मन	”	”	”	”

शंका—इन्द्रियों के द्वारा होनेवाला ज्ञान तो निर्विकल्प है। वे स्पर्श आदि विषयों को जानती तो हैं पर उनमें यह 'ठंडा है गरम नहीं, इसे ठंडा ही होना चाहिये, यह ठंडा ही है' इत्यादि विकल्प नहीं पैदा होते। ये सब विकल्प तो मानसिक परिणाम हैं। किन्तु इन विकल्पोंके बिना मतिज्ञान के अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा ये भेद बन नहीं सकते, अतः प्रत्येक इन्द्रिय का कार्य अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणारूप मानना उचित नहीं ?

समाधान—यह सही है कि उक्त विकल्प मानसिक परिणाम हैं। इन्द्रियाँ तो अभिमुख विषय को ग्रहण करती मात्र हैं उनमें विधि-निषेधरूप जितने भी विकल्प होते हैं वे सब मन से ही होते हैं। तथापि उनमें इन्द्रियों की सहायता अपेक्षित रहती है इसलिये तद्द्वारा होनेवाले ईहा, अवाय और धारणा रूप कार्य इन्द्रियों के माने गये हैं।

शंका—तब फिर एकेन्द्रियादि जिन जीवों के मन नहीं पाया जाता है उनके प्रत्येक इन्द्रिय द्वारा अवग्रह आदि चार प्रकार का ज्ञान कैसे हो सकता है ?

समाधान—संज्ञी पंचेन्द्रियों में मतिज्ञान के ये भेद देखकर अन्यत्र उनका उपचार किया जाता है।

शंका—चींटी आदि को अनिष्ट विषय से निवृत्त होते हुए और इष्ट विषय में प्रवृत्ति करते हुए देखा जाता है, इससे ज्ञात होता है कि एकेन्द्रिय आदि जीवों के भी उक्त प्रकार से ज्ञान होता है ?

समाधान—यद्यपि एकेन्द्रिय आदि जीवों के मन नहीं हैं तो भी जिनके जितनी इन्द्रियाँ होती हैं उनमें ऐसी योग्यता होती है जिससे वे अनिष्ट विषय से निवृत्त होकर स्वभावतः इष्ट विषय में प्रवृत्ति करते रहते हैं ॥ १५ ॥

अवग्रह आदि के विषयभूत पदार्थों के भेद—

*** बहुबहुविधक्षिप्रानिःसृतानुक्तध्रुवाणां सेतराणाम् ॥ १६ ॥**

बहु, बहुविध, क्षिप्र, अनिःसृत, अनुक्त और ध्रुव तथा इनके प्रतिपक्षभूत पदार्थों के अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणारूप मतिज्ञान होते हैं।

अबतक मतिज्ञान के अवग्रह आदि चार भेद और उनके निमित्त बतलाये पर यह नहीं बतलाया कि इन सबकी प्रवृत्ति किनमें होती है। प्रस्तुत सूत्र में यही बतलाया गया है। यहाँ मतिज्ञान के विषयभूत पदार्थों के बारह भेद किये गये हैं सो ये सब भेद पदार्थ, क्षयोपशम और निमित्त की विविधता के कारण से किये गये जानना चाहिये। पाँच इन्द्रिय और मन के निमित्त से होनेवाला अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणारूप मतिज्ञान इन बारह प्रकार के विषयों में प्रवृत्त होता है यह इस सूत्र का भाव है। इस प्रकार मतिज्ञान के कुल भेद २८८

---

* श्वेताम्बर भाष्यमान्य पाठ यों है—'बहुबहुविधक्षिप्रानिश्रितासन्दिग्धध्रुवाणां सेतराणाम्' देखो पं० सुखलालजी का तत्त्वार्थसूत्र पृ० २५।

होते हैं। किन्तु इनमें व्यञ्जनावग्रह के ४८ भेद सम्मिलित नहीं हैं। वे २८८ भेद ये हैं—

बहुग्राही	छह अवग्रह	छह ईहा	छह अवाय	छह धारणा
अल्पग्राही	"	"	"	"
बहुविधग्राही	"	"	"	"
एकविधग्राही	"	"	"	"
क्षिप्रग्राही	"	"	"	"
अक्षिप्रग्राही	"	"	"	"
अनिःसृतग्राही	"	"	"	"
निःसृतग्राही	"	"	"	"
अनुक्तग्राही	"	"	"	"
उक्तग्राही	"	"	"	"
ध्रुवग्राही	"	"	"	"
अध्रुवग्राही	"	"	"	"

अब इन बारह प्रकार के विषयों का क्या अभिप्राय है यह बतलाते हैं—

१ बहु—बहुत। यह संख्या और परिमाण दोनों की अपेक्षा हो सकता है। संख्या की अपेक्षा बहुत—बहुत मनुष्य या बहुत वृक्ष आदि। परिमाण की अपेक्षा बहुत—बहुत दाल या बहुत भात आदि।

२ अल्प—थोड़ा। यह भी संख्या और परिमाण की अपेक्षा दो प्रकारका है। संख्या की अपेक्षा अल्प—थोड़े मनुष्य या थोड़े वृक्ष

आदि। परिमाण की अपेक्षा अल्प—थोड़ा भात या थोड़ी दाल आदि।

३ बहुविध—संख्या या परिमाण प्रत्येक की अपेक्षा बहुत प्रकार के पदार्थ।

४ एकविध—संख्या या परिमाण प्रत्येक की अपेक्षा एक प्रकार के पदार्थ।

बहु तथा अल्प में प्रकार, किस्म या जाति विवक्षित नहीं रहती किन्तु बहुविध और एकविध में ये विवक्षित रहती हैं, यही इनमें अन्तर है।

५ क्षिप्र—पदार्थों का शीघ्रता पूर्वक ज्ञान या अतिवेग से गतिशील पदार्थ। पहले अर्थ में ज्ञान का धर्म पदार्थ में आरोपित किया गया है और दूसरे अर्थ में गति क्रिया की अपेक्षा से पदार्थ को क्षिप्र मान लिया है।

६ अक्षिप्र—क्षिप्र का उलटा।

७—अनिःसृत†—नहीं निकला हुआ। जो पदार्थ पूरा छिपा रहता है वह भी अनिःसृत कहलाता है और जिसका एक हिस्सा छिपा रहता है वह भी अनिःसृत कहलाता है।

८ निःसृत—अनिःसृत का उलटा।

९ अनुक्त‡—अभिप्राय गत पदार्थ या जिसके विषय में कुछ नहीं कहा गया है वह पदार्थ।

---

† श्वेताम्बर ग्रन्थों में 'अनिश्रित' ऐसा पाठ है। तदनुसार ऐसा अर्थ किया है कि लिंगअप्रमित अर्थात् हेतु द्वारा असिद्ध वस्तु अनिश्रित कहलाती है और लिंगप्रमित वस्तु निश्रित कहलाती है। देखो पं० सुखलालजी का तत्त्वार्थसूत्र पृ० २७।

‡ श्वेताम्बर ग्रन्थों में इसके स्थान में असन्दिग्ध और अनुक्त ऐसे दोनों पाठों का

१० उक्त—कहा गया पदार्थ।

११ ध्रुव—कुछ काल तक एक रूप से ग्रहण करते रहना या चिरकाल तक अवस्थित रहनेवाले पदार्थ। पहले अर्थ में ज्ञान गत धर्म का पदार्थमें आरोप किया गया है और दूसरे अर्थ में व्यञ्जन पर्याय का अवस्थितपना विवक्षित है।

१२ अध्रुव—ध्रुव का उलटा।

इन बारह प्रकार के विषयों का पाँच इन्द्रिय और मन से अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा रूप ज्ञान होता है यह अब तक के कथन का तात्पर्य है।

इस विषय में विशेष ज्ञातव्य—

नि:सृत-अनि:सृत विचार

एक देश प्रकट हुए पदार्थ के ज्ञान से पूरे पदार्थ का ज्ञान होना अनि:सृतग्रहण है। अनि:सृत मतिज्ञान का ऐसा अर्थ करने पर वह मतिज्ञान नहीं ठहरेगा, क्योंकि यहाँ एकदेश प्रकट हुए पदार्थ का ज्ञान पूरे पदार्थ के ज्ञान में कारण पड़ा, इसलिये यह पूरे पदार्थ का ज्ञान श्रुत ज्ञान हुआ, अतः अनि:सृत मतिज्ञान का इस प्रकार अर्थ करना चाहिये कि पदार्थ का एकदेश योग्य सन्निकर्ष में अवस्थित होने पर सम्पूर्ण वस्तु का ज्ञान हो जाना अनि:सृत मतिज्ञान है। जैसे हाथी की सूँड सामने आते ही केवल सूंड का ज्ञान न होकर सूँड सहित पूरे हाथी का ज्ञान होना अनि:सृत मतिज्ञान है। तात्पर्य यह है कि पहले प्रकट हिस्से का ज्ञान हो और फिर उसके आधार से अप्रकट अंश का ज्ञान हो यह अर्थ अनि:सृत मतिज्ञान में इष्ट नहीं।

उल्लेख है। वहां असंदिग्ध का अर्थ निश्चित और संदिग्ध का अर्थ अनिश्चित किया है। अनुक्त उक्त का वही अर्थ किया है जो दिगम्बर ग्रन्थों में पाया जाता है। देखो पं० सुखलाल जी का तत्त्वार्थसूत्र टिप्पनी पृ० २८।

इसी प्रकार अनुक्त ग्रहण में भी पहले अन्य निमित्तका ग्रहण हो और फिर उस पर से अभिप्राय गत पदार्थ का ग्रहण हो यह अर्थ इष्ट नहीं, है क्यों कि ऐसा अर्थ करने पर वही दोष आता है जो अनिःसृत मतिज्ञान के विशेष व्याख्यान के समय बतला आये हैं। मुख्यतया अनुक्त का मतलब ऐसे पदार्थ से है जिसके विषय में कुछ भी नहीं कहा गया है उसको अवग्रह आदि के क्रम से जानना अनुक्त मतिज्ञान है। वीरसेन स्वामी धवला में इसके विषय में लिखते हैं कि विवक्षित इन्द्रिय द्वारा अपने विषय को ग्रहण करने के समय ही अन्य विषय का ग्रहण हो जाना अनुक्त प्रत्यय है। जैसे जिस समय चक्षु से नमक या मिसरी को जानते हैं उसी समय उसके रस का ज्ञान होना या जिस समय दीपक को देखा उसी समय उसके स्पर्श का ज्ञान होना अनुक्त ज्ञान है।

उक्त-अनुक्त विचार

अब श्रोत्र इन्द्रिय की अपेक्षा १२ प्रकार के उक्तभेद घटित करके बतलाते हैं—

तत, वितत, घन और सुशिर आदि शब्दों को सुन कर एक साथ उनका ज्ञान करना बहुज्ञान है। इनमें से कुछ शब्दों को सुनकर उनका ज्ञान करना अल्पज्ञान है। तत आदि नाना प्रकार के शब्दों को उनकी अनेक जातियों के साथ जानना बहुविध ज्ञान है। एकविध इससे उलटा है। शीघ्रता से शब्द को ग्रहण करना क्षिप्र ज्ञान है या अति शीघ्रता से उच्चारित शब्दों को जान लेना क्षिप्रज्ञान है। अक्षिप्र इससे उलटा है। शब्दों के पूरा उच्चारण न करने पर भी पूरा समझ लेना अनिःसृत ज्ञान है। निःसृत इससे उलटा है। शब्दोच्चारण करने के सन्मुख होने पर अभिप्राय से ही समझ लेना अनुक्तज्ञान है। उक्त इससे उलटा है। कहे गये अर्थ को जैसे प्रथम समय में ग्रहण किया है उसी प्रकार द्वितीयादि समयों में ग्रहण करना ध्रुवज्ञान है। अध्रुव इससे उलटा है। जैसे श्रोत्र इन्द्रिय की

उक्त पदार्थों के ज्ञान का खुलासा

अपेक्षा १२ प्रकार के पदार्थों का ज्ञान घटित करके बतलाया है, वैसे ही शेष इन्द्रिय और मन की अपेक्षा घटित कर लेना चाहिये।

यहाँ इतना विशेष जानना चाहिये कि यह बारह प्रकार के पदार्थों का ज्ञान अवग्रह, ईहा अवाय और धारणारूप चार प्रकार का होता है

मतिज्ञान के भेद

जो कि पाँच इन्द्रिय और मन इन छहों से उत्पन्न होता है। इसी से इसके २८८ भेद किये हैं। इनमें व्यंजनावग्रह के ४८ भेद मिला देने पर मतिज्ञान के कुल भेद ३३६ होते हैं ॥ १६ ॥

अवग्रह आदि चारों का विषय–

अर्थस्य ॥ १७ ॥

अर्थ के अवग्रह आदि चारों मतिज्ञान होते हैं।

पहले पाँच इन्द्रिय और मन के विषयभूत जो बारह प्रकार के

सूत्र का आशय

पदार्थ बतला आये हैं वे सब अर्थ कहलाते हैं। उनका अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणारूप चारों प्रकार का ज्ञान होता है यह इस सूत्र का भाव है।

यद्यपि स्थिति ऐसी है तो भी ये इन्द्रियों के विषय अर्थ और

अवग्रह के दो भेद होने के कारण

व्यंजन इन दो भागों में बट जाते हैं जिससे अवग्रह ज्ञान के भी दो भेद हो जाते हैं—अर्थावग्रह और व्यंजनावग्रह। ईहादिक के ये दो भेद नहीं प्राप्त होने का कारण यह है कि व्यंजन पदार्थ का केवल अवग्रह ही होता है, ईहादिक नहीं होते।

अब अर्थ किसे कहते हैं सर्व प्रथम इसका विचार करते हैं। पूज्यपाद स्वामी ने अपनी सर्वार्थसिद्धि में लिखा है कि चक्षु और मन

अर्थ की परिभाषा

अप्राप्यकारी हैं तथा शेष चार इन्द्रियाँ प्राप्यकारी हैं। दूसरी बात यह लिखी है कि जो शब्दादि अर्थ अव्यक्त होते हैं वे व्यंजन कहलाते हैं। इस पर से अर्थ का यह स्वरूप फलित

होता है कि चक्षु और मन का विषय तो अर्थ कहलाता ही है। शेष चार इन्द्रियों का विषय भी यदि व्यक्त होता है तो वह भी अर्थ कहलाता है। यद्यपि पूज्यपाद स्वामी ने अर्थ के स्वरूप का निर्देश करते समय प्रमुखता से चक्षु इन्द्रिय का ही नाम लिया है जिससे ज्ञात होता है कि पूज्यपाद स्वामी स्वयं एतत्प्रकारक विषय को अर्थ मानते हैं। तथापि उन्होंने व्यंजन का लक्षण लिखते समय शब्दादि विषय के विशेषण रूप से जो अव्यक्त पद का निर्देश किया है सो इससे यह भी ज्ञात होता है कि वे व्यक्त शब्दादिक को भी अर्थ की कोटि में सम्मिलित करते हैं।

किन्तु वीरसेन स्वामी अर्थ और व्यंजन के उक्त लक्षण से सहमत नहीं हैं। वीरसेन स्वामी चक्षु और मन को केवल अप्राप्यकारी मानते हैं और शेष चार इन्द्रियों को प्राप्यकारी और अप्राप्यकारी दोनों प्रकार का मानते हैं। उनका मत है कि स्पर्शन, रसन, घ्राण और श्रोत्र ये चार इन्द्रियाँ अपने-अपने विषय को छू कर जानती हैं यह तो सर्व-विदित है। किन्तु ये चक्षु और मन के समान अप्राप्त अर्थ को भी विषय करती हैं। इस कारण से उन्होंने अर्थ और व्यंजन की परिभाषा करते हुए केवल अप्राप्त विषय को अर्थ और प्राप्त अर्थ के प्रथम ग्रहण को व्यंजन बतलाया है।

अर्थ की अन्य परिभाषा

यद्यपि यहाँ पर इन्द्रियों के विषय को अर्थ और व्यंजन इस प्रकार दो भागों में बाँट दिया गया है पर यह दोनों प्रकार का विषय सामान्य और विशेष उभयरूप ही होता है। आशय यह है कि इन्द्रिय और मन न केवल सामान्य को ही विषय करते हैं और न केवल विशेष को ही विषय करते हैं किन्तु सामान्य और विशेष उभयात्मक वस्तु को ही विषय करते हैं।

अर्थ की उभयात्मकता

शंका—जब कि स्पर्शन आदि इन्द्रियों का विषय स्पर्श आदि है

और ये सब पुद्गल द्रव्य की पर्याय हैं तब इनका विषय उभयात्मक वस्तु न मानकर पर्याय मानना चाहिये ?

समाधान—इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण तो वस्तु का ही होता है किन्तु उनमें अलग-अलग धर्म को अभिव्यक्त करने की योग्यता होने से प्रत्येक इन्द्रिय का विषय अलग-अलग धर्म कहा जाता है। उदाहरणार्थ—घ्राण इन्द्रिय से गन्ध का संयोग न होकर सुगन्ध या दुर्गन्धवाले परमाणुओं का ही संयोग होता है। किन्तु घ्राण इन्द्रिय में गन्ध को अभिव्यक्त करने के योग्यता होने से इसका विषय गन्ध कहा जाता है। इसी प्रकार अन्य इन्द्रियों के विषय में जानना चाहिये।

शंका—नय ज्ञान से इन्द्रिय ज्ञान में क्या अन्तर है, क्योंकि एक धर्म द्वारा वस्तु को विषय करना नय है और पूर्वोक्त कथन से इन्द्रिय ज्ञान भी इसी प्रकार का प्राप्त होता है। यहाँ भी स्पर्श आदि एक-एक धर्म द्वारा वस्तु का बोध होता है ?

समाधान—नय ज्ञान विश्लेषणात्मक है इन्द्रिय ज्ञान नहीं, यही इन दोनों में अन्तर है।

अन्यमत निरास

अन्य लोग इन्द्रियों के साथ केवल रूपादि गुणों का सन्निकर्ष मानते हैं। किन्तु उनका ऐसा मानना ठीक नहीं है, क्योंकि रूपादि गुण अमूर्त हैं। उनके साथ इन्द्रियों का सन्निकर्ष न होकर रूपादि गुणवाले पदार्थों के साथ ही इन्द्रियों का सन्निकर्ष होता है। यद्यपि 'मैंने रूप देखा, गन्ध सूँघा' ऐसा व्यवहार होता है, किन्तु यह व्यवहार औपचारिक है। वास्तव में इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण तो अर्थ का ही होता है, परन्तु रूपादिक अर्थ से कथंचित् अभिन्न होते हैं इसलिये अर्थ का ग्रहण होने से इनका भी ग्रहण बन जाता है॥ १७॥

अवग्रह का दूसरा भेद—

व्यञ्जनस्यावग्रहः ॥ १८ ॥

न चक्षुरनिन्द्रियाभ्याम् ॥ १९ ॥

व्यञ्जन का अवग्रही होता है।

किन्तु वह चक्षु और मन से नहीं होता।

पूर्व सूत्र में अर्थ का पारिभाषिक अर्थ बतलाते समय हम व्यंजनका भी पारभाषिक अर्थ बतला आये हैं। जब तक पदार्थ व्यंजन रूप रहता है तब तक उसका अवग्रह ही होता है जो नेत्र और मन से नहीं होता। नेत्र प्राप्तअर्थ को नहीं जानता इसलिये इससे व्यंजनाग्रह नहीं होता। इसी प्रकार मन भी प्राप्त अर्थ को नहीं जानता इसलिये इससे भी व्यञ्जनाग्रह नहीं होता। यह धवला टीका के अनुसार उक्त सूत्रों का भाव है।

उक्त सूत्रों का आशय

किन्तु पूज्यपाद स्वामी और अकलंक देव प्राप्त अर्थ के प्रथम ग्रहण मात्र को व्यंजनावग्रह नहीं मानते। उन्होंने प्राप्त अर्थ को व्यंजनावग्रह का विषय न मान कर अव्यक्त शब्दादिक को ही व्यंजनावग्रह का विषय माना है। उन्होंने लिखा है कि जैसे मिट्टी के नूतन सकोरे पर पानी की एक दो बूँद डालने मात्र से वह गीला नहीं होता। किन्तु पुनः पुनः सींचने पर वह अवश्य ही गीला हो जाता है। इसी प्रकार जब तक स्पर्शन, रसन, घ्राण, और श्रोत्र इन्द्रिय का विषय स्पृष्ट होकर भी अव्यक्त रहता है तब तक उसका व्यंजनाग्रह ही होता है किन्तु उसके व्यक्त होने पर अर्थावग्रह होता है। उनके मत से प्राप्त अर्थ के अर्थावग्रह और व्यञ्जनावग्रह में यही अन्तर है। व्यक्त ग्रहण का नाम अर्थावग्रह है और अव्यक्त ग्रहण का नाम व्यंजनावग्रह।

अन्य मत का निर्देश

शंका—इस मतभेद के रहते हुए अर्थावग्रह और व्यञ्जनावग्रह का सुनिश्चित लक्षण क्या माना जाय ?

समाधान—दोनों ही लक्षणों के मानने में कोई आपत्ति नहीं है।

शंका—सो कैसे ?

समाधान—विवक्ष्याभेद से। वीरसेन स्वामी प्राप्त अर्थ के प्रथम ग्रहणमात्र को व्यंजनावग्रह रूप से विवक्षित करते हैं और पूज्यपाद स्वामी केवल अव्यक्त प्राप्त अर्थ के ग्रहण को व्यंजनाग्रह मानते हैं।

शंका—कितने ही विद्वान् क्षिप्रग्रहण को अर्थावग्रह और अक्षिप्र ग्रहण को व्यञ्जनावग्रह मानते हैं। सो उनका ऐसा मानना क्या उचित है ?

समाधान—नहीं

शंका—क्यों ?

समाधान—क्यों कि ऐसा मानने पर दोनों ही अवग्रहों के द्वारा बारह प्रकार के पदार्थों का ग्रहण नहीं प्राप्त होता है।

इसलिये अर्थावग्रह और व्यञ्जनावग्रह के वे ही लक्षण मानने चाहिये जिनका निर्देश पीछे किया जा चुका है।

शंका—मतिज्ञान अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा के क्रम से ही उत्पन्न होता है या इसमें व्यतिक्रम भी देखा जाता है ?

समाधान—मतिज्ञान अवग्रह ईहा आदि के क्रम से ही होता है। इसमें व्यतिक्रम का होना सम्भव नहीं है।

शंका—पदार्थ का जब भी मति ज्ञान होता है तब अवग्रह आदि चारों का होना क्या आवश्यक है ?

समाधान—नहीं।

शंका—तो फिर क्या व्यवस्था है ?

समाधान—कोई ज्ञान अवग्रह होकर छूट जाता है। किसी पदार्थ के अवग्रह और ईहा दो होते हैं। किसी के अवाय सहित तीन होते हैं

और किसी किसी पदार्थ के धारणा सहित चारों पाये जाते हैं। किन्तु परिपूर्ण ज्ञान अवाय के होने पर ही समझा जाता है।

शंका—'व्यञ्जन का अवग्रह ही होता है' इतना सूचित करने मात्र से यह ज्ञात हो जाता है कि व्यञ्जन के सिवा शेष सब पदार्थों के अवग्रह आदि चारों होते हैं। फिर 'अर्थस्य' सूत्र की रचना किस लिये की गई है?

समाधान—बहु आदि अर्थ के भेद हैं यह दिखलाने के लिये 'अर्थस्य' सूत्र की रचना की गई है।

शका—क्या ये बहु आदि बारह भेद व्यञ्जन के भी प्राप्त होते हैं?

समाधान—अवश्य प्राप्त होते हैं, क्योंकि पदार्थों को व्यञ्जनरूप इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण करने की अपेक्षा से माना गया है। जब स्पर्शन, रसना, घ्राण और श्रोत्र इन्द्रियां पदार्थों को प्राप्त होकर जानती हैं तब वे पदार्थ प्रारम्भ में व्यञ्जनरूप माने जाते हैं अन्यथा नहीं यह उक्त कथन का तात्पर्य है।

शंका—इस प्रकार मतिज्ञान के कुल भेद कितने हैं?

समाधान—तीनसौ छत्तीस।

शंका—सो कैसे?

समाधान—दो सौ अठासी तो पहले ही बतला आये हैं। उनमें व्यञ्जनावग्रह के ४८ भेद मिला देने पर कुल तीन सौ छत्तीस भेद हो जाते है॥ १८-१९॥

श्रुतज्ञानका स्वरूप और उसके भेद—

श्रुतं मतिपूर्वं द्व्यनेकद्वादशभेदम्॥ २०॥

श्रुतज्ञान मतिज्ञान पूर्वक होता है। वह दो प्रकार का, अनेक प्रकार का और बारह प्रकार का है।

सूत्र में आये हुए पूर्व शब्दका अर्थ कारण है। इसलिये श्रुतज्ञान मतिज्ञान पूर्वक होता है इसका यह मतलब है कि मतिज्ञान के निमित्त से

श्रुतज्ञान उत्पन्न होता है। मतिज्ञान हुए बिना श्रुतज्ञान नहीं हो सकता यह इसका भाव है। फिर भी मतिज्ञान को श्रुतज्ञान का निमित्त कारण मानना चाहिये उपादान कारण नहीं; क्योंकि उसका उपादान कारण तो श्रुतज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम ही है।

शंका—मतिज्ञान से श्रुतज्ञान में क्या अन्तर है?

समाधान—पाँच इन्द्रिय और मन इनमें से किसी एक के निमित्त से किसी भी विद्यमान वस्तुका सर्व प्रथम मतिज्ञान होता है। तदन्तर इस मतिज्ञान पूर्वक उस जानी हुई वस्तुके विषयमें या उसके सम्बन्धसे अन्य वस्तुके विषय में विशेष चिन्तन चालू होता है जो श्रुतज्ञान कहलाता है। उदाहरणार्थ—मनुष्य विषयक चाक्षुष मतिज्ञान के होने के बाद उसके सम्बन्ध में मनमें यह मनुष्य है, पूर्व से आया है और पश्चिम को जा रहा है, रंग रूप तथा वेशभूषा से ज्ञात होता है कि यह पंजाबी होना चाहिये आदि विकल्प का होना श्रुतज्ञान है। मतिज्ञान विद्यमान वस्तु में प्रवृत्त होता है और श्रुतज्ञान-अतीत, वर्तमान तथा अनागत इन त्रैकालिक विषयों में प्रवृत्त होता है। मतिज्ञान पांच इन्द्रिय और मन इन छहों के निमित्त से प्रवृत होता है किन्तु श्रुतज्ञान केवल मनके निमित्त से ही प्रवृत्त होता है इस प्रकार मतिज्ञान और श्रुतज्ञान में यही अन्तर है।

शंका—क्या श्रुतज्ञान की उत्पत्ति इन्द्रियों से नहीं होती?

समाधान—जैसे मतिज्ञान की उत्पत्तिमें इन्द्रियां साक्षात् निमित्त होती हैं वैसे श्रुतज्ञान की उत्पत्ति में साक्षात् निमित्त नहीं होतीं, इसलिये श्रुतज्ञान की उत्पत्ति इन्द्रियों से न मानकर मन से ही मानी है। तथापि स्पर्शन आदि इन्द्रियों से मतिज्ञान होने के बाद जो श्रुतज्ञान होता है उसमें परम्परा से वे स्पर्शन आदि इन्द्रियां निमित्त मानी है, इसलिये मतिज्ञान के समान श्रुतज्ञान की उत्पत्ति भी पांच इन्द्रिय और मन से कही जाती है पर यह कथन औपचारिक है।

शंका—मतिज्ञानपूर्वक ही श्रुतज्ञान होता है यह बात न होकर अधिकतर श्रुत ज्ञानपूर्वक भी श्रुतज्ञान देखा जाता है, जैसे घट शब्द का सुनना तदन्तर घट ऐसा मानसिक ज्ञान का होना और फिर घट में पानी भरा जाता है। ऐसा घटकार्यका ज्ञान होना ये क्रमसे होनेवाले तीन ज्ञान हैं । इनमें से प्रथम मतिज्ञान और अन्तके दो श्रुतज्ञान हैं, इस प्रकार इससे यह सिद्ध हुआ कि श्रुतज्ञान से भी श्रुतज्ञान होता है, अतः मतिज्ञानपूर्वक श्रुतज्ञान होता है यह कथन नहीं बनता है ?

समाधान—यावत् श्रुतज्ञानों के प्रारम्भ में मतिज्ञान होता है इस दृष्टि को सामने रखकर ही प्रस्तुत सूत्रमें 'मतिज्ञानपूर्वक श्रुतज्ञान होता है' यह कहा गया है । अथवा जितने भी श्रुतज्ञानपूर्वक श्रुतज्ञान होते हैं उनमें से पूर्व ज्ञानको उपचार से मतिज्ञान मानने पर 'मतिज्ञान पूर्वक श्रुतज्ञान होता है' यह नियम बन जाता है।

शंका—श्रुत का अर्थ आगम या शास्त्र है, इसलिये उसके ज्ञान को ही श्रुतज्ञान मान लेनेमें क्या आपत्ति है ?

समाधान—श्रुतका मनन या चिन्तनात्मक जितना भी ज्ञान होता है वह तो श्रुतज्ञान है ही; किन्तु उसके साथ उस जातिका जो अन्य ज्ञान होता है उसे भी श्रुतज्ञान मानना चाहिये। श्रुतज्ञान के अक्षरात्मक और अनक्षरात्मक ऐसे जो दो भेद मिलते हैं सो वे इसी आधार से किये गये हैं ।

शंका—श्रुत के दो, अनेक और बारह भेद कहे सो कैसे ?

समाधान—अंगबाह्य और अंगप्रविष्ट ये श्रुतके दो भेद हैं । इनमें से अंगबाह्य के अनेक भेद हैं और अंगप्रविष्ट के आचारांग आदि बारह भेद हैं ।

शंका—ये तो भाषात्मक शास्त्रों के नाम हुए श्रुतज्ञान के नहीं, पर

यहाँ श्रुतज्ञान का प्रकरण है, इसलिये यहां भाषात्मक शास्त्रोंके भेद न गिनाकर श्रुतज्ञान के भेद गिनाने थे ?

समाधान—मोक्ष के लिये इन शास्त्रोंका अभ्यास विशेष उपयोगी है, इसलिये कारण में कार्यका उपचार करके भाषात्मक शास्त्रोंको ही श्रुतज्ञान के भेदों में गिना दिया है। अथवा उक्त भाषात्मक शास्त्रों का और श्रुतज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम का अन्योन्य सम्बन्ध है। श्रुतज्ञानावरण कर्म के कितने क्षयोपशम के होने पर उक्त शास्त्रों का कितना ज्ञान प्राप्त होता है यह एक बँधा हुआ क्रम है, अतः इसी बात के दिखलाने के लिए यहाँ शास्त्रों के भेद गिनाये हैं।

शंका—अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य श्रुतमें क्या अन्तर है ?

समाधान—श्रुत के कुल अक्षर १८४४६७४४०७३७०९५५१६१५ माने गये हैं। इनमें मध्यम पद के १६३४८३०७८८८ अक्षरों का भाग देनेपर ११२८३५८००० मध्यम पद और ८०१०८१७५ अक्षर प्राप्त होते हैं। आचारांग आदि बारह अंगों की रचना उक्त मध्यम पदों द्वारा की जाती है इसलिये इनकी अंगप्रविष्ट संज्ञा है और शेष अक्षर अंगोंके बाहर पड़ जाते हैं इसलिए इनकी अंगबाह्य संज्ञा है। यद्यपि इन अंगों और अंगबाह्यों की रचना गणधर करते हैं। तथापि गणधरों के शिष्यों प्रशिष्यों द्वारा जो शास्त्र रचे जाते हैं उनका समावेश अंगबाह्य श्रुत में ही होता है। अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य श्रुतमें यही अन्तर है।

शंका—क्या एक पद में (मध्यम पदमें) उक्त अक्षरोंका पाया जाना सम्भव है ?

समाधान—मध्यम पद के ये अक्षर विभक्ति या अर्थ बोध की प्रधानता से नहीं बतलाये गये हैं किन्तु १२ अंगरूप द्रव्यश्रुत में से प्रत्येक के अक्षरों की गणना करनेके लिये मध्यमपदका यह प्रमाण मान लिया गया है।